



श्री रमण महर्षिकृत

उपदेश सारम्

व्याख्या : स्वामिनि अमितानन्द सरस्वती

वेदान्त मिशन प्रकाशन

समर्पण

त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ॥

‘उपदेश सार’ ग्रंथ के रचयिता ब्रह्मनिष्ठ श्री रमण महर्षिजी हैं। इस ग्रंथ में अध्यात्म यात्रा हेतु साध्य साधन का विवेक प्रस्तुत करके प्रत्येक साधना का उचित स्थान को दर्शाया गया है, तथा इसे विद्वानों को अत्यन्त प्रिय है। अतः यह छोटा सा ग्रंथ अध्यात्म के जिज्ञासु के लिए आदरणीय है। इसके प्रत्येक श्लोक छोटे लेकिन गागर में सागर की उक्ति को सार्थक करते हुए अत्यन्त गहन एवं मननीय हैं।

यह इन्टरनेट प्रकाशन ‘वेदान्त पीयूष’ मासिक पत्रिका में ढाई वर्ष से प्रकाशित हो रहे उपदेश सार के प्रत्येक श्लोक पर की व्याख्या का यह संकलन मात्र है। हम व्याख्या समेत इस उपदेश सार ग्रंथ को पूज्य गुरुजी तथा समस्त गुरु परम्परा के चरणों में कृतज्ञतापूर्वक समर्पित करते हैं।

हमे आशा हैं कि यह ग्रंथ से आप अवश्य लाभान्वित होंगे।

ॐ

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
श्री रमण महर्षि परिचय	१-४
ग्रन्थ परिचय	५-७
मूलश्लोक	८-१०
श्लोक १	११-१४
श्लोक २	१४-१७
श्लोक ३	१८-२१
श्लोक ४	२१-२४
श्लोक ५	२४-२७
श्लोक ६	२७-३०
श्लोक ७	३१-३४
श्लोक ८	३४-३७
श्लोक ९	३८-४१
श्लोक १०	४१-४४
श्लोक ११	४४-४७
श्लोक १२	४७-५०

श्लोक १३	५०-५२
श्लोक १४	५२-५४
श्लोक १५	५४-५६
श्लोक १६	५७-६०
श्लोक १७	६०-६२
श्लोक १८	६२-६६
श्लोक १९	६६-६८
श्लोक २०	६८-७१
श्लोक २१	७१-७३
श्लोक २२	७३-७६
श्लोक २३	७६-७९
श्लोक २४	७९-८१
श्लोक २५	८२-८५
श्लोक २६	८५-८९
श्लोक २७	८९-९२
श्लोक २८	९२-९४
श्लोक २९	९५-९७
श्लोक ३०	९८-१००



श्री रमण महर्षि का परिचय

तामिलनाडू में एक महान ब्रह्मनिष्ठ सन्त १८ वी सदी में हुए, जिनका नाम था रमण महर्षि। वे तामिलनाडू के तिरुचूजी नामक गांव में १८७६ के दिसम्बर माह में पैदा हुए थे। बचपन में वे वेंकटरामन नाम से जाने जाते थे। बहुत ही बाल्यावस्था में ही उन्होंने अपने पिता को खो दिया था। अतः वे अपने बड़े भाई नागास्वामी के साथ अपने चाचा के वहां मदुराई में रह कर पढ़ाई करते थे। वे शारीरिक रूप से तो स्वस्थ थे, किन्तु ज्यादातर वे मानसिक रूप से सदैव कहीं खोए खोए से रहते थे। उनको पढ़ाई में कोई खास रुचि नहीं थी। उनके हर कार्य में अरुचि और पढ़ाई में रुचि का अभाव देखकर उनके भाई उनसे प्रसन्न नहीं रहते थे।

एक बार उनके वहां कुछ अतिथि लोग आएँ जिसे वेंकटरामन ने पूछा कि 'आप लोग कहां से पधारे हैं?' अतिथियों ने अरुणाचल की यात्रा से वे आएँ है, यह बात जब बताई तो मानो इस 'अरुणाचल' शब्द को सुनकर ही उनके शरीर में एक हर्ष की लहर जैसे दौड़ गई हो। इस शब्द मात्र ने महर्षिजी के

मन और शरीर में एक रोमांच उत्पन्न कर दिया। बचपन से ही इस अरुणाचल के प्रति उनके मन में एक ऐसा भक्तिभाव था। वे उसे एक अत्यन्त पवित्र, परमात्मा का मूर्तिमान रूप की तरह देखते थे। अरुणाचल तिरुवन्नामलाई में एक पहाड़ी का नाम है, जहां पर भगवान शिवजी का मंदिर है। लोग इसे दक्षिण के कैलास पर्वत की तरह आदर और श्रद्धा के साथ देखते हैं तथा उसकी परिक्रमा करते हैं। बचपन से ही वे उस अरुणाचल पर जाने का स्वप्न देखने लगे।

उनके बाल्यावस्था की एक विशेष घटना वे बताते थे। एक बार वे अपने चाचा के वहां पहली मंजिल पर अपने कमरे में बैठे थे। उस वक्त अचानक उन्हें मरने का डर लगा। तब उनके मन में जिज्ञासा हुई कि मृत्यु का अर्थ क्या होता है? यदि हम मर जाएं तो क्या होता है? यह सोचते हुए उन्होंने उसका अनुभव करना चाहा। उन्होंने अपने मन को अन्तर्मुख किया, सब इन्द्रियों को अन्दर समेट लिया और शरीर को निश्चेष्ट करके सोचने लगे कि अब तो हम मर गए हैं, और अब हमें ले जाया जाएगा और जला दिया जाएगा। पर तुरन्त ही यह विचार आया कि यदि यह शरीर मर गया है तो हमें तो उसका भान हो रहा है, क्या यह शरीर मैं हूँ? अतः उन्होंने अपनी सांस को रोक लिया, पर उस वक्त भी 'मैं' तो ज्यों का त्यों दिखाई

पड़ा। अपने मन के विचारों को भी रोक कर सोचा कि शायद मन के विचार भी बन्द हो जाना मृत्यु होगी। पर उस वक्त यह अनुभव किया कि इन निर्विचार मन को भी जानने वाला 'मैं' का कभी भी अभाव नहीं होता है। इस प्रकार मृत्यु का भय उनके मन से सदैव के लिए समाप्त हो गया। वे अपने जीवन के अनुभवों का संस्मरण करते हुए बताते हैं कि उस वक्त जिस 'मैं' का एक शुद्ध चेतन सत्ता रूप में अनुभव हुआ था, वह ही आज आत्मा की अनुभूति के रूप में विराजमान है। इस अनुभव के उपरान्त कुछ समय वे अपने परिवार के साथ रहे।

महर्षिजी की पढ़ाई के प्रति अरुचि देखते हुए एक दिन उनके भाई ने कहा कि, 'इनका यहां काम ही क्या है?' यह सुनकर महर्षिजी को यह बात छू गई और सोचा कि, 'सही में यहां तो हमारा कोई काम ही नहीं है।' यह सोचकर वे अरुणाचल जाने को निकल पड़े। उन्होंने जाते हुए घर में एक पत्र लिखकर छोड़ा कि हमारी तलाश करने का कोई कष्ट न करें और न ही कोई दुःख मनाएं। हम अपने परं पिता की तलाश में जा रहे हैं।' उन्होंने अपने कान की बाली को बेचकर ट्रेन का टिकट लिया और बचे हुए पैसे की एक पुड़िया बनाकर पानी में प्रवाहित कर लिया। वे पूर्णतया अपरिग्रही होकर अरुणाचल में बसने लगे। और वहीं पर मौन धारण करके जप,

ध्यान, समाधि लगाने लगे। अपना ज्यादातर समय उन्होंने वहीं पर व्यतीत किया। ग्यारह वर्षों के बाद १६०७ में जब एक कवि गणपति मुनि से उनकी भेंट हुई, गणपति मुनि ने उन्हें अपनी आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी प्रश्न पूछा और तब महर्षिजी ने अपना मौन खोला।

वर्षों उपरान्त वे अरुणाचल की तलेटी में अपनी माताजी के साथ वास करने लगे। महर्षिजी के पास कोई भी किसी प्रकार का साधना सम्बन्धी प्रश्न पूछता था तो वे उसका उत्तर सीधा ही 'वह मैं कौन है' जो जानना चाहता है? इस प्रकार 'मैं' की तरफ ध्यान केन्द्रित कराते हुए इस 'मैं' पर विचार के लिए प्रेरित करते थे। उनके जीवन में उन्होंने कुछ ग्रंथों की रचना भी करी, जिसमें से उपदेश सार, सद् दर्शन आदि प्रचलित है।



ग्रन्थ परिचय

उपदेश सार श्री रमण महर्षि द्वारा रचित वेदान्त का बहुत संक्षिप्त और सारगर्भित प्रकरण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में कर्म के क्षेत्र से यात्रा का आरम्भ करते हुए ज्ञान की परं अवस्था में कैसे जगा जा सकता है, उस विषय पर महर्षिजी ने अपने शास्त्र सम्मत विचार दिये हैं। अहं का नाश होने पर ही मनुष्य उस परं की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इस अहं के (जीवभाव के) मिथ्यात्व को जानकर उससे परे जाना ही सब से महान तपस्या है। ज्ञान की अवस्था में जगने के लिए वेदान्त विचार के अलावा मन को पात्र बनाने की आवश्यकता होती है, उसके लिए विविध प्रकार की साधनाएं आचार्यों के द्वारा प्रदान की हैं। प्रत्येक साधना का कुछ महत्व पूर्ण स्थान होता है, साथ ही उसकी कुछ सीमाएं भी हुआ करती है। उस विषय पर भी महर्षिजी ने संक्षिप्त तथा स्पष्ट भाषा में प्रतिपादन किया है। तीस श्लोकों में ग्रथित यह ग्रंथ की रचना किसी विशेष परिस्थिति में हुई थी। इस ग्रंथ की रचना की प्रेरणा जगाने वाली शिव पुराण के अन्तर्गत की बहुत सुन्दर कथा है।

शिव पुराण में प्रसंग आता है कि एक समय दारुकावन में कुछ ऋषि लोग निवास करते थे। उन लोगों ने अनेक यज्ञ

यागादि का सुन्दर रूप से अनुष्ठान करके अनेकों सिद्धियां प्राप्त की थी। अब उसी कर्मकाण्ड का आश्रय लेकर मोक्ष रूपा सिद्धि को पाना चाहते थे। यह उन लोगों की एक बहुत बड़ी भूल थी। क्योंकि कर्म के माध्यम से मोक्ष रूपा नैष्कर्म्य की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती है। उन लोगों की कर्म के प्रति अद्भुत निष्ठा को देखकर शिवजी करुणा से द्रवित हो गए, और उन्होंने उन लोगों को इस तथ्य से अवगत कराते हुए उचित ज्ञान देने का संकल्प किया।

इस कार्य के लिए वे एक युवा ब्राह्मण के रूप में प्रगट हुए और समस्त ऋषि पत्नियों से भिक्षा मांगते हुए उन लोगों को सम्मोहित कर दिया। उनके वशीभूत होकर समस्त स्त्रियां उनके पीछे पीछे चलने लगी तब भगवान विष्णु एक सुन्दर युवती का रूप धर के ऋषियों के समक्ष प्रगट हुए और उन सबको मोहित कर दिया। इससे वे अपने कर्म से विचलित होकर उनके पीछे भ्रमित हो गए। जब ऋषियों को पुनः भान हुआ तब देखा कि उनकी पत्नियां उस युवा ब्राह्मण के पीछे चल पड़ी हैं। यह देख वे अत्यन्त क्रोधित हो गए और उनके सामने अपनी सिद्धियों का प्रयोग करते हुए बाघ उत्पन्न कर दिया। जिसे शिवजी ने आसानी से मार दिया। तब उन ऋषियों ने सिद्धि से प्राप्त अनेकों अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया, पर वे सब शिवजी से

परास्त हो गए। यह देख उन सब में यह निश्चय उत्पन्न हो गया कि यह कोई साधारण ब्राह्मण नहीं हैं, किन्तु इस वेश में कोई शक्तिशाली देवता है। अतः उनके प्रति शरणागत होकर उन्हें वास्तविक रूप में प्रगट होने के लिए निवेदन करने लगे। तब शिवजी ने अपने वास्तविक रूप में उन सबको दर्शन प्रदान करके उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया।

तामिल कवि मुरुगनार शिव पुराण पर एक काव्य लिख रहे थे। यह प्रसंग आने पर वे संशयग्रस्त होकर सोचने लगे कि शिवजी ने उन ऋषियों को जो उपदेश दिया, उस उपदेश का क्या स्वरूप होगा ! जब वे उस पर कुछ भी नहीं समझ पाए तब श्री महर्षिजी के पास आकर संशय रखा। उसके उत्तर में महर्षिजी ने यह तीस श्लोक में ग्रथित उपदेश प्रदान किया। मूल रूप से यह तामिल भाषा में है, किन्तु बाद में तमिल कवि गणपति मुनि ने उसका संस्कृत में अनुवाद किया हैं।



श्लोक

१. कर्तृराज्ञया प्राप्यते फलम् ।
कर्म किं परं कर्म तज्जडम् ॥
२. कृतिमहोदधौ पतन कारणम् ।
फलमशाश्वतम् गति निरोधकम् ॥
३. ईश्वरार्पितं नेच्छया कृतम् ।
चित्तशोधकं मुक्तिसाधकम् ॥
४. कायवाक्मनः कार्यमुत्तमम् ।
पूजनं जपश्चिन्तनं क्रमात् ॥
५. जगत ईशधी-युक्तसेवनम् ।
अष्टमूर्तिभृत्-देवपूजनम् ॥
६. उत्तमस्तवाद् उच्चमन्दतः ।
चित्तजं जपः ध्यानमुत्तमम् ॥
७. आज्यधारया स्रोतसा समम् ।
सरलचिन्तनं विरलतः परम् ॥
८. भेदभावनात् सोऽहमित्यसौ ।
भावनाभिदा पावनी मता ॥
९. भावशून्य सद्भाव सुस्थितिः ।
भावनाबलाद् भक्तिरुत्तमा ॥
१०. हृत्स्थले मनः स्वस्थता क्रिया ।
भक्तियोगबोधाश्च निश्चितम् ॥

११. वायुरोधनात् लीयते मनः ।
जालपक्षिवद् - रोध साधनम् ॥
१२. चित्तवायवः चित्क्रियायुताः ।
शाखयोर्द्वयी शक्तिमूलका ॥
१३. लयविनाशने उभयरोधने ।
लयगतंपुनः भवति नो मृतम् ॥
१४. प्राणबन्धनात् लीनमानसम् ।
एक चिन्तनात् नाशमेत्यदः ॥
१५. नष्टमानसोत्कृष्ट योगिनः ।
कृत्यमस्ति किं स्वस्थितिं यतः ॥
१६. दृश्यवारितं चित्तमात्मनः ।
चित्त्वदर्शनं तत्त्वदर्शनम् ॥
१७. मानसं तु किं मार्गणे कृते ।
नैव मानसं मार्ग आर्जवात् ॥
१८. वृत्तयस्त्वहं वृत्तिमाश्रिताः ।
वृत्तयो मनो विद्धि अहं मनः ॥
१९. अहमयं कुतो भवति चिन्वतः ।
अयि पतत्यहं निजविचारणम् ॥
२०. अहमि नाशभाजी अहमहंतया ।
स्फुरति ह्रस्वयं परमपूर्णसत् ॥

२१. इदमहम्पदाभि-ख्यमन्वहम् ।
अहमि लीनकेऽप्यलय सत्तया ॥
२२. विग्रहेन्द्रिय प्राणधीतमः ।
नाहमेकसत् तज्जडं ह्यसत् ॥
२३. सत्त्वभासिका चित्त्व इतरा ।
सत्तया हि चित् चित्तया ह्यहम् ॥
२४. ईशजीवयोः वेषधीभिदा ।
सत्स्वभावतो वस्तु केवलम् ॥
२५. वेषहानतः स्वात्मदर्शनम् ।
ईशदर्शनम् स्वात्मरूपतः ॥
२६. आत्मसंस्थितिः स्वात्मदर्शनम् ।
आत्मनिर्द्धयात् आत्मनिष्ठता ॥
२७. ज्ञानवर्जिताऽज्ञानहीन चित् ।
ज्ञानमस्ति किं ज्ञातुमन्तरम् ॥
२८. किं स्वरूपमिति आत्मदर्शने ।
अव्ययाभवाऽऽपूर्णचित्सुखम् ॥
२९. बन्धमुक्त्यतीतं परं सुखम् ।
विन्दतीह जीवस्तु दैविकः ॥
३०. अहमपेतकं निजविभानकम् ।
महदिदं तपो रमण वागियम् ॥

ग्रंथ व्याख्या

श्लोक - 9

संगति:- महर्षिजी शिव पुराण में प्राप्त प्रसंग के अनुसार उन तपस्वी ब्राह्मणों को निमित्त बनाकर चर्चा आरम्भ करते हैं। वे समस्त लोग कर्म के प्रति तथा उनसे प्राप्त सिद्धियों के विषय में अत्यन्त आसक्त थे। अतः प्रथम तीन श्लोकों में कर्म के रहस्य और उसकी सीमाएं तथा उनके सकारात्मक पहलू के बारे में क्रमशः अवगत कराते हैं। सर्व प्रथम श्लोक, कर्म की सीमाओं का प्रतिपादन करता है :-

**कर्तुराज्ञया प्राप्यते फलम् ।
कर्म किं परं कर्म तज्जडम् ॥**

अन्वयार्थ:- कर्तुः - कर्ता की, आज्ञया - आज्ञा से, फलम् - कर्मफल की, प्राप्यते - प्राप्ति होती है। किं - क्या, कर्म - कर्म, परं - श्रेष्ठ है, तत् - वह, कर्म - कर्म, जडम् - जड़ है।

श्लोकार्थ:- जगतकर्ता की आज्ञा से (नियमानुसार) कर्मफल प्राप्त होता है। क्या कर्म सर्वश्रेष्ठ है? नहीं, वह कर्म जड़ है।

व्याख्या:- जीव स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानता है। अतः उसकी यात्रा कर्म के क्षेत्र से ही आरम्भ होती है, किन्तु यह एक विडम्बना है कि जीव को अनेकों बार कर्म बन्धनकारी लगता है लेकिन वह स्वयं को कर्म से विरत भी नहीं कर सकता है। कई बार जब हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तो मन में चिन्ता और अशान्ति का अनुभव होता है, तथा कभी कभी कर्म बोझा भी लगता है, कि हमने जिस दिशा को पकड़ा है, उससे हम सुलझने के बजाय और उलझते जा रहे हैं। अतः विचार करने की आवश्यकता है कि जिन कर्म रूपी साधन का हमने चयन किया है, क्या वह उचित है अथवा उसके प्रति हमारी दृष्टि सही है, अथवा कुछ मोह से युक्त हैं?

इस विषय में हमारा अपने बारे में तथा कर्म के बारे में मोह दिखाई देता है। अपने बारे में यह मोह है कि हम कर्म के द्वारा परिस्थिति के निर्माता हैं, तथा कर्म से उत्पन्न फल हमें तृप्त करने वाला है। यह दोनों ही मोह मन में अशान्ति और विक्षेप लाता हैं। जब हम अपने आपको ही मात्र कर्मफल के लिए जिम्मेदार समझते हैं, तब स्वाभाविक ही उसका समस्त बोझा हमारे ही सिर पर आ जाता है। दूसरा, कर्म के प्रति यह मोह भी जब विद्यमान है कि यह कर्मफल के उपर ही हमारे पूर्ण सुख और सुरक्षा निर्भर है। तब हम उसकी प्राप्ति के विषय में

चिन्ताग्रस्त और संशयग्रस्त होकर अशान्ति का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं जब कर्म का फल हमारे लिए इतना महत्वपूर्ण है तो हमारा पूरा ध्यान उसकी तरफ अर्थात् भविष्य में ही लगा रहता है। ऐसे में कर्म करते समय के वर्तमान क्षण हमारे लिए बोझा रूप बन जाते हैं, और हम भविष्य पर ही अपनी निगाहें गाड़े रहते हैं। जब कर्म में पूरा ध्यान नहीं लगा पाते हैं, तो कर्मफल भी प्रभावित होता ही है। अतः कर्म के उपरान्त पश्चात्ताप होता है। एवं ये दोनों प्रकार के मोह मन को अशान्त और चिन्ताग्रस्त करते हैं।

सर्व प्रथम अपने बारे में मोह को दूर करने के लिए महर्षिजी बताते हैं कि 'कर्तुराज्ञया प्राप्यते फलम्।' कर्ता की अर्थात् जगदीश्वर की इच्छा से ही कर्मफल की हमें प्राप्ति होती है। किसी भी कर्मफल के उत्पन्न होने में पूरे ब्रह्माण्ड के अनन्त तत्त्वों का योगदान होता है। इन सब को नियन्त्रित करने वाले जो नियन्ता हैं, वह ईश्वर है। एवं कर्मफल ईश्वर ही देने वाले हैं। हम तो कर्म और कर्मफल के अनन्त निमित्तों में से एक निमित्त हैं। महर्षिजी कर्मफल के विषय में हमारा मोह भंग करते हुए कहते हैं कि 'कर्म किं परं? कर्म तज्जडम्।' यह विचार करो कि 'क्या कर्म ही श्रेष्ठ है?' कर्म एक काल विशेष में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। हम परं सुख और तृप्ति पाना चाहते हैं। यह

नाशवान् कर्म क्या कालातीत, शाश्वत सुख को प्राप्त कराने में समर्थ है ? यदि इस पर विचार करके देखें तो यह बात निश्चित हो जाती हैं कि कर्म से वह हमें कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता हैं। अतः जो भी हमें प्राप्त हो रहा है, उसमें जगदीश्वर की कृपा का अनुभव करें तथा प्रत्येक कर्म को उनकी सेवा के लिए समर्पित करें। हमारे कर्म हमारी प्रेम की अभिव्यक्ति का हेतु बनें। तथा कर्म के द्वारा परं सुख की अपेक्षा को त्यागें।

श्लोक - २

संगति:- उपदेश सार ग्रंथ का श्रीगणेश करते हुए महर्षिजी ने कर्म और कर्ता के बारे में मोह के विषय में सही विवेक दिया। जीव की सामान्यतः यह मान्यता होती है कि हम कर्म के द्वारा सब कुछ पा लेने में समर्थ हैं। यहां तक कि कर्म में समस्त बन्धनों से परे की परं अवस्था में जगने के सामर्थ्य की कल्पना करता हैं। इसके माध्यम से समस्त सीमाओं से परे एक पूर्णता की अवस्था है। महर्षिजी ने यह कह कर आंखें खोल दी कि कर्म जड़ और नाशवान है। वह परं की प्राप्ति कैसे करा सकता है, तथा अपने बारे में बताया कि ईश्वर ही सब के कर्ता धर्ता हैं। उन्हीं से जगत नियन्त्रित हो रहा है, एवं वे ही समस्त

परिस्थितियों को देनेवाले कर्मफल-प्रदाता हैं। जो व्यक्ति इस पर विश्वास करके चलता है, वह मुक्ति के पथ पर आरूढ़ होता है। जो इसे नहीं स्वीकार करता है, उसके लिए यह पतन का कारण बन जाता है। आगे के श्लोक में अपने अविषक के कारण होने वाली हानि को महर्षिजी बताते हैं।

कृतिमहोदधौ पतन कारणम् । फलमशाश्वतम् गति निरोधकम् ॥

अन्वयार्थः- कृति महोदधौ - कर्म का महासागर, पतन - अधोगति, कारणम् - कारण, फलम् अशाश्वतम् - अशाश्वत फल, गति निरोधकम् - विकास का अवरोधक।

श्लोकार्थः- कर्म के महासागर में अशाश्वत फल वाला कर्म पतन का कारण बनता है, तथा गति का अवरोधक है।

व्याख्याः- सब के कर्ता-धर्ता एक मात्र ईश्वर ही है। यदि कर्मफलदाता ईश्वर ही हैं, हर परिस्थिति उन्हींकी कृपा और व्यवस्था से प्राप्त होती है। ईश्वर ने उस परिस्थिति में प्रतिक्रिया के लिए न केवल सामर्थ्य प्रदान किया है, किन्तु कर्म की

स्वतंत्रता भी दी हैं। इस स्वतंत्रता से युक्त होकर ही हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु यह एक विडम्बना है कि जब हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तब तो स्वतंत्र होते हैं किन्तु धीमें-धीमे उससे सुलझने के बजाय उलझते जाते हैं। महर्षिजी इसकी एक महासागर से तुलना करते हैं। हम जन्म के साथ ही कर्म के इस महासमुद्र में आ पहुंचते हैं। पहले तो जैसे समुद्र के किनारे खड़े रहते हुए छोटी मोटी लहरों से खेलने का बड़ा ही आनन्द अनुभव होता है। वैसे ही कर्म के क्षेत्र में जब हमने प्रवेश किया होगा तो वह हमारे लिए आनन्द और उत्साह का विषय रहा होगा। किन्तु आज हम अपने आपको पाते हैं कि हम मानो कि एक भंवर में फंसे हुए हैं।

हमारी अपने विषय में एक अपूर्णता की और दूसरी कर्म के फल के उत्पादक की धारणा है। अपूर्णता की धारणा की वजह से कर्म में सकामता से अपनी अपूर्णता की निवृत्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं, और साथ ही अपने आपको कर्मफल के उत्पन्न करने वाले मान बैठते हैं। सकामता से किया हुआ कर्म, फल की प्राप्ति के साथ ही मन में अनुकूलता और प्रतिकूलता के परिप्रेक्ष में संस्कार व वासना पैदा करते हैं। यह वासना ऐसा अद्भूत प्रभाव डालती है, कि जब हम पुनः वैसी परिस्थिति को प्राप्त करते हैं तो कर्म की स्वतंत्रता ही खो बैठते हैं, किन्तु हम स्वेच्छा

के बजाय वासना से ही प्रेरित होकर कर्म करते हैं, एवं परिस्थिति हमें करवाती है। हम समस्त सीमाओं और बन्धनों से मुक्त होना चाहते थे और हम और भी वासना के पराधीन होकर जीते हैं। हमारे मन की सूक्ष्मता और मनुष्यता खोने लगती है। हमारे में विचारशीलता का अभाव ही पतन की दिशा में पहला कदम है। गीता में भगवान कहते हैं कि 'बुद्धि नाशात्प्रणश्यति।' हम अपने आपको फल का उत्पादक मानते हैं, तो वहां पर भी सब बोझा अपने आप पर आ जाता है। हम सफलता में अभिमान के तथा विफलता में असमर्थता के बोझों से दब जाते हैं। यहां कर्म के दोष दिखाने के द्वारा महर्षिजी बताते हैं कि यदि कर्म के प्रति सही दृष्टि रखे बिना अविवेक युक्त कर्म का आश्रय लिया तो पतन का ही कारण बनता है। कर्म का फल अशाश्वत है। किसी काल विशेष में पैदा होता है, और समाप्त हो जाता है। उसके उपर आश्रित होकर जीने से हमारी कहीं गति नहीं होती है, किन्तु अनित्य के दायरे में ही घूमते रहते हैं। अतः न हम कहीं विकास की दिशा में और न ही सीमाओं से परे बन्धन से मुक्ति की दिशा में यात्रा करते हैं। यह ही हमारी परं की लक्ष्य की दिशा में अवरोध का कारण बनता है।

श्लोक - ३

संगति:- पिछले श्लोक में देखा कि कर्म के प्रति सही दृष्टि रखे बिना अविवेक युक्त कर्म का आश्रय लिया तो पतन का ही कारण बनता है। कर्म का फल अशाश्वत है। किसी काल विशेष में पैदा होता है, और समाप्त हो जाता है। उसके उपर आश्रित होकर जीने से हमारी कहीं गति नहीं होती है, किन्तु अनित्य के दायरे में ही घूमते रहते हैं। अतः न हम कहीं विकास की दिशा में यात्रा करते हैं और न ही सीमाओं से परे बन्धन से मुक्ति की दिशा में यात्रा करते हैं। यह ही हमारी परं की लक्ष्य की दिशा में अवरोध का कारण बनता है। एक और कर्म बन्धनकारी भी है, दूसरी और कर्म को त्यागा भी नहीं जा सकता है। तो हमें क्या करना चाहिए, इस विषय में महर्षिजी आगे कर्म के बारे में सही दृष्टि का परिचय प्रदान करते हैं।

**ईश्वरार्पितं नेच्छया कृतम् ।
चित्तशोधकं मुक्तिसाधकम् ॥**

अन्वयार्थ:- ईश्वरार्पितं - ईश्वर के प्रति समर्पित, न इच्छया - इच्छा से रहित, कृतम् - किया गया, चित्तशोधकम् - चित्तशुद्धि

करनेवाला, **मुक्तिसाधकम्** - मुक्ति का साधक है।

श्लोकार्थः- स्वार्थ रहित ईश्वर-अर्पण बुद्धि से किया गया कर्म चित्त शुद्ध करता है, तथा मुक्ति का साधन बनता है।

व्याख्या:- रमण महर्षिजी गीता में प्रतिपादित कर्मयोग की दृष्टि को ही सूत्र रूप से प्रगट कर रहे हैं। कर्म वस्तुतः बन्धनकारी नहीं है, किन्तु उसके सम्पादन में दोष के कारण ही वह बन्धनकारी प्रतीत होता है। यह बात सत्य है कि हम कर्म का त्याग नहीं कर सकते हैं, किन्तु कर्म के प्रति दृष्टि बदलने से यह ही कर्म हमें सहायक हो जाता है। इस दृष्टि को महर्षिजी बताते हुए कहते हैं कि, कर्म को 'नेच्छया कृतम्', अर्थात् स्वार्थवृत्ति से न करें। किन्तु ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करें। कर्म को स्वार्थ प्रेरित इच्छा से करने का अभिप्राय है कि कर्म के फल के प्रति दुराग्रह से युक्त होकर अपनी व्यक्तिगत अनुकूलता मात्र को प्रधानता देना। यह दुराग्रह तब होता है, कि जब कर्म के फल के स्वयं को ही उत्पादक मान कर तीव्र कर्तृत्व के अभिमान से युक्त होता है। ऐसे में कर्म करने के समय अशान्ति और बोझा बना रहता है। जब अपने अनुकूल फल की प्राप्ति होती है, तो अभिमान की वृद्धि और प्रतिकूलता में जीवन में निराशा और हतोत्साहिता

होती है। कर्म के फल के प्रति ही अपने सुख आदि के लिए पूर्णतया आश्रित होने के कारण कर्म का फल मन में रागादि दोष को जन्म देता है। महर्षिजी कहते हैं कि प्रत्येक कर्म को ईश्वरार्पण बुद्धि से करें। ईश्वर ही जगत का कर्ता-धर्ता हैं, वह ही कर्मफल प्रदाता हैं - सर्वप्रथम यह विश्वास होना चाहिए। जो निरपेक्ष भाव से सतत हमारे उपर जीवन प्रदान करने से लेकर विभिन्न परिस्थितियां प्रदान करने के द्वारा कृपा बरसा रहे हैं। हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता को अभिव्यक्त करना चाहे तो एक ही तरीका है। वह है हमारे समस्त कर्म उनकी आज्ञा समझकर उनके प्रति सेवा के रूप में समर्पित हो।

ईश्वरार्पण बुद्धि का अभिप्राय कर्म के प्रति और उसके परिणाम रूप प्राप्त कर्मफल के प्रति एक विशेष दृष्टि से युक्त होना। वह है जो भी कर्म करें उसे प्रभु की आज्ञा समझ कर, प्रभु की सेवा की तरह करें। उसके लिए प्रभु की क्या आज्ञा है, यह समझना अत्यन्त आवश्यक है। जब भी कोई परिस्थिति प्राप्त हो उस समय अपने व्यक्तिगत रागादि को किनारे करते हुए परिस्थिति को देखा जाय। जो भी सब के हित में होता है, उसी का आश्रय लिया जाय, तो वह ही प्रभु इच्छा व आज्ञा होती है। इसमें स्वयं का भी कल्याण निहित है ऐसा विश्वास होना चाहिए। जब इस प्रकार से प्रभु की आज्ञा को पहचान कर अपने समस्त

कर्म उनकी खुशी के लिए किये जाते हैं, तो यह कर्म उनके प्रति समर्पित होता है। अतः उससे प्राप्त फल उनका प्रसाद हो जाता है। अतः उसमें न तो आग्रह-दुराग्रह और न ही रागादि का स्थान रह जाता है। वह साधक धीमें धीमें रागादि दोषों से मुक्त होकर शुद्ध होने लगता है। परिस्थिति के प्राप्त होने पर मन के प्रतिक्रियात्मक स्वभाव पर अंकुश लगने लगता है और शान्त मन से विचार करने में समर्थ हो सकता है। वह भूत और भविष्य के ग्लानि और चिन्तारूप दोषों से मुक्त होने लगता है।

जो भी व्यक्ति परिस्थिति के प्राप्त होने पर शान्त रहकर तटस्थतापूर्वक विचार करने में समर्थ हो पाता है, वह ही शास्त्रों का खुले मन से श्रवण करके उसका तात्पर्य निश्चय कर पाता है। अतः प्रत्येक कर्म को प्रभु की आज्ञा रूप जानकर उसको उनकी सेवारूप समर्पित करना तथा कर्मफल के प्रति प्रसादबुद्धि रखनी चाहिए। यह ही कर्मयोग कहलाता है। प्रत्येक कर्म में उसका अवश्य समावेश होना चाहिए।

श्लोक - ४

संगति:- पिछले श्लोक में देखा कि कर्म के बन्धन व सम्भावित दोषों से बचने का एक मात्र तरीका है कि प्रत्येक कर्म को ईश्वर

के चरणों में समर्पित किया जाए। अब प्रश्न यह होता है कि कर्मों का ईश्वर के चरणों में समर्पण का क्या स्वरूप होगा? इस विषय का महर्षिजी आगे को श्लोक में समाधान करते हैं।

कायवाक्मनः कार्यमुत्तमम् । पूजनं जपश्चिन्तनं क्रमात् ॥

अन्वयार्थः- काय-वाक्-मनः - शरीर, वाणी और मन के, **पूजनम्** - पूजा, **जपः** - जप, **चिन्तनम्** - चिन्तन, **क्रमात्** - क्रम से, **उत्तम कार्यम्** - उत्तम कार्य है।

श्लोकार्थः- स्वार्थ रहित ईश्वर-अर्पण बुद्धि से किया गया कर्म चित्त शुद्ध करता है, तथा मुक्ति का साधन बनता है।

व्याख्या:- प्रभु के श्रीचरणों में कर्म को अर्पित करना ही कर्मयोग कहलाता है। इसे करने के लिए प्रत्येक कर्म को परमात्मा के साथ जोड़ना चाहिए। कर्मयोगी को परमात्मा का भक्त होना अनिवार्य है। यदि प्रभु के श्रीचरणों में प्रेम नहीं होगा तो कर्मों का उनके प्रति समर्पण नहीं हो पाएगा, उसे करने के लिए चेष्टा व प्रयास लगेगा। साधारणतः हम तीन स्तर पर विविध चेष्टाएं करते हैं।

वह है - शरीर, वाणी और मन। यदि इन चेष्टाओं को संकल्पपूर्वक सजगता के साथ की जाती है तो ही वह कर्म की श्रेणी में आती है। इन त्रिविध स्तर पर के कर्मों को कर्मयोग बनाने का तरीका महर्षिजी प्रतिपादित करते हैं कि 'पूजनं जपश्चिन्तनम्'। परमात्मा के किसी रूप विशेष से युक्त को लेकर उन्हें साक्षात् चेतनस्वरूप परमात्मा जानकर उनकी शरीर के द्वारा पूजा की जाती है। जिसे मूर्तिपूजा कहा जाता है। घर के किसी शुद्ध पवित्र स्थान में एक मंदिर बनाकर उसमें उस विग्रह को स्थापित किया जाता है। फिर परमात्मा को उसमें आवाहित करके उनके प्रति उन समस्त आसन, स्नान, पुष्प, चन्दन, धूप, दीप नैवेद्य आदि उपचार समर्पित किये जाते हैं, जिसे हम स्वयं के लिए भी करते हैं। यह शरीर के स्तर के कर्मों को प्रभु के प्रति समर्पित करने का प्रारम्भिक सौपान मात्र है। उसका पर्यवसान हमारे समस्त कर्मों में उस भावना को समाविष्ट करना है।

वाणी के स्तर पर महर्षिजी बताते हैं कि जपः। वाणी के द्वारा परमात्मा की स्तुति करना फिर नाम-जप का आश्रय लेना। मन ही मन परमात्मा के दिव्य अस्तित्व को अनुभव करके उनकी कृपा और महानता का स्मरण करते हुए धन्यतापूर्वक उनके नाम का आवृत्ति रूप से स्मरण करना। यह वाणी के द्वारा अपनी भक्ति को समर्पित करने का तरीका है। तीसरा मन के स्तर पर

परमात्मा की महानता, उनकी कृपा तथा गुण विशेषों को स्मरण करना ध्यान होता है। इस तरह अपने व्यक्तित्व के प्रत्येक स्तर के कर्मों का प्रभु के श्री चरणों में अर्पण होने से कर्म के सम्भावित दोषों से बचा जा सकता है, तथा यह मुक्ति के साधन रूप बनता है। इन तीनों साधनाओं को रमण महर्षिजी आगे के श्लोकों में विस्तार से बताएंगे।

श्लोक - ५

संगति:- पिछले श्लोक में देखा कि पूजन, जप और चिन्तन - शरीर, वाणी और मन से किये जाने वाले कर्म उत्तम हैं। शरीर से किये जाने वाले पूजा रूपी कर्म का पर्यवसान कहां एवं किस दृष्टि में होता है, यह महर्षिजी आगे के श्लोक में बताते हैं।

**जगत ईशधी-युक्तसेवनम् ।
अष्टमूर्तिभृत्-देवपूजनम् ॥**

अन्वयार्थ:- जगतः - जगत का, ईशधी-युक्त - ईश्वरबुद्धि से युक्त, सेवनम् - सेवा, अष्ट-मूर्ति-भृत् - आठ मूर्तिधारी, देवपूजनम् - देवता की पूजा है।

श्लोकार्थः- जगत के प्रति ईश्वर की बुद्धि रखकर सेवा करना ही अष्ट मूर्तिधारी ईश्वर की पूजा है।

व्याख्या:- पूजा एक बहुत सुन्दर साधना होती है। जिसमें हम किसी रूप विशेष में अभिव्यक्त परमात्मा को लेकर उन्हें जगदीश्वर जानकर उनकी पूजा-सेवा करते हैं। घर के किसी शुद्ध पवित्र स्थान में एक मंदिर बनाकर उसमें उस विग्रह को स्थापित कर उसमें परमात्मा को आवाहित करके उनके प्रति उन समस्त आसन, वस्त्र, पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं कृतज्ञता से समर्पित किये जाते हैं। भाव से ही भाव जगता और बढ़ता है। यह पूजा शरीर के स्तर के कर्मों को प्रभु के प्रति समर्पित करने का प्रारम्भिक सौपान है।

प्रारम्भ में यह पूजा एक मन्दिर में स्थित अपने इष्ट के विग्रह तक ही सीमित होती है। किन्तु यदि प्रभु को हम तत्त्वतः एक विग्रह मात्र में ही सीमित समझते हैं तो यह उनकी अवज्ञा करना ही होता है। जो परमात्मा जगत के अधिष्ठान रूप हैं, वे एक विग्रह व रूप मात्र में सीमित कैसे हो सकते हैं? यह पूरा जगत परमात्मा की ही अभिव्यक्ति रूप है। मन्दिर में की गई अपने इष्ट के विग्रह की पूजा का पर्यवसान ऐसी सुन्दर दृष्टि में होना चाहिए। श्रुति भी जगत् रूप ईश्वर के बारे में एक सुन्दर

काव्यात्मक दृष्टि का प्रतिपादन करती है। उसी का अनुवाद महर्षिजी ने इस श्लोक में किया है। महर्षिजी बताते हैं कि इस पूरे जगत को आठ मूर्तिधारी ईश्वर ही जानो। इस जगत के उपादान रूप आठ पदार्थ देखें जा सकते हैं। वह है-पांच महाभूत, सूर्य-चन्द्र और जीव। इसे परमात्मा के एक विराट शरीर के विविध अंग रूप बताये जाते हैं। जिसमें सूर्य चन्द्र और अग्नि परमात्मा की आंखें है, आकाश मस्तक रूप है, वायु परमात्मा की सांस हैं, जल बस्ती प्रदेश है और पृथ्वी परमात्मा के चरण हैं। जीव परमात्मा के अन्तःकरण की विविध वृत्तियां हैं। वायु चलती है तो परमात्मा की सांसे हमें उनके अत्यन्त निकट होने का एहसास कराती हैं। हम आकाश की छत्रछाया और प्रभु की पृथ्वी रूपा गोद में बैठे हैं, यह हमें अत्यन्त सुरक्षित होने का एहसास कराती है। जिस समय सूर्यादि को प्रभु की आंख की तरह देखते हैं तो जीवन में एक निश्चिंतता आती है कि प्रभु की दृष्टि हमारे उपर है। इतना ही नहीं इस बात के एहसास की वजह से साधक धर्म पथानुगामी बनते हैं। जब अपने आपको प्रभु के चित्त की वृत्ति रूपा जानते हैं, तो हम परमात्मा के अभिन्न अंग रूप हैं। इसलिए हम भी वस्तुतः दिव्य और अमृत स्वरूप हैं, इस बात का एहसास उत्पन्न होता है। यह दृष्टि जगत को दिव्य स्वरूप बना देती है। जब सब कुछ परमात्मा ही है, तो

किससे राग करें और किससे द्वेष! हम जो कुछ भी करते हैं वह प्रभु के प्रति समर्पित है, एवं प्रत्येक कर्म का समर्पण प्रभु के श्री चरणों में होने लगता है। हमारे कर्म कर्मयोग बन जाते हैं। जिसे महर्षिजी ने चित्तशुद्धि का एक मात्र साधन बताया था। हमारे समस्त सामर्थ्य प्रभु से ही हैं, अतः किसी भी कर्म के फल को पाने के समय विनम्रता तथा कृतज्ञता की भावना जगने लगती है। जिस मन में धन्यता की भावना जग जाती हैं, वह मन शान्त, निरपेक्ष और शुद्ध होता है। वह ही परमात्मा से ऐक्य का ज्ञान पाने के लिए पात्र बन जाता है। इसलिए महर्षिजी कहते हैं कि जगत के प्रति ईश्वर की बुद्धि से युक्त हो कर प्रत्येक कर्म को पूजा बनाना चाहिए - यह ही एक मात्र कल्याणकारी पूजा एवं साधना है। ऐसी दृष्टि से शीघ्र ही मन निर्मल हो जाता है।

श्लोक - ६

संगति:- पिछले श्लोक में देखा कि जगत के प्रति ईश्वर की बुद्धि से युक्त हो कर प्रत्येक कर्म को पूजा बनाना चाहिए - यह ही एक मात्र कल्याणकारी पूजा रूपी साधना है। ऐसी दृष्टि से शीघ्र ही मन निर्मल हो जाता है। अब वाणी के स्तर पर की साधना, जप, के विषय में महर्षिजी बता रहे हैं।

**उत्तमस्तवाद् उच्चमन्दतः ।
चित्तजं जपः ध्यानमुत्तमम् ॥**

अन्वयार्थः- उत्तम स्तवाद् - स्तुति से उत्तम, उच्च-मन्दतः - उच्च, मन्द, चित्तजं जप - चित्त जप, ध्यानम् - ध्यान, उत्तमम् - उत्तम है।

श्लोकार्थः- ईश्वर की स्तुति करना उत्तम है, किन्तु इससे सूक्ष्म और श्रेष्ठ जप है। यह जप तीन प्रकार का है; उच्च, मन्द और मानस जप। यह क्रम से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना गया है।

व्याख्याः- महर्षिजी हमें जीवन के परं लक्ष्य की दिशा में अग्रसर करने के लिए स्थूल से आरम्भ करते हुए सूक्ष्म स्तर के क्रम से साधना का स्वरूप तथा उसका पर्यवसान दिखा रहे हैं। इसके अन्तर्गत समस्त इन्द्रियों के स्तर की साधना से और भी सूक्ष्म वाणी और मन के स्तर पर की साधना होती है। शुरुआत में मन अनेकों विषयों में रागादिवशात् तथा आदतवशात् भागता रहता है, अतः स्थूल आलम्बन लेते हुए भी उसे भगवान के श्रीचरणों में लगाए रखने के लिए विविध तरीके से व्यस्त किया जाता है। इसके लिए वाणी के स्तर पर प्रभु का नाम-जप करना बताया जाता है। इससे मन शान्त, समाहित, एकाग्र होता है तथा

अपनी संकल्प शक्ति एवं प्रभु भक्ति को बढ़ाने के लिए सहायक है। इन जप के पूर्व भगवान के स्तोत्रपाठ, भजन आदि के द्वारा स्तुति का आश्रय लिया जाता है। इनके द्वारा प्रभु की महिमा का गुणगान गाते हुए मन में प्रेम का संचार किया जाता है। इससे मन धीमें- धीमे समाहित होने लगता है, मन भावयुक्त होने लगता है। जब यह कार्य सम्पन्न होने लगता है, तब वाणी के स्तर पर ज्यादा शब्दों का आलम्बन नहीं लेते हुए किसी एक मंत्र की बार-बार आवृत्ति की जाती है, जिसे जप कहते हैं। जप करने के लिए शान्त और एकान्त स्थान में बैठकर जिस भगवान का नाम-जप करना हो उनके रूप एवं गुणों को मन में लाना चाहिए। तदुपरान्त मन में प्रभु के प्रति कृतज्ञता की भावना को जगाकर मन के वातावरण को भावपूर्ण बनाएं। उसके उपरान्त नाम-जप करना आरम्भ किया जाता है।

जप तीन प्रकार के होते हैं। उच्च जप, मन्द जप और मानस जप। 9. उच्च जप:- प्रारम्भ में उच्च जप से प्रारम्भ करना चाहिए। इसमें मंत्र का उच्चारण ऊंचे स्वर में किया जाता है, जिसे हम स्वयं भी सुन सकते हैं और आस-पास के अन्य लोग, अगर कोई होता है, तो वह भी सुन सकता। यद्यपि ध्यान रखें कि आपके मन्त्र को कोई सुन न सके, इसीलिए जप के लिए एकान्त स्थान को चुना जाता है। इस उच्च जप की

परिपक्वता होने पर उसका पर्यवसान मन्द जप में होता है। २. मन्द जप:- मन्द जप में हम अपने होंठ एवं कंठ द्वारा जप करते हैं। इसमें स्वर इतना मन्द होता है कि हमारे सिवा और कोई उसे सुन नहीं सकता है। इस मन्द जप की परिपक्वता होने पर उसका पर्यवसान मानस जप में होना चाहिए। ३. मानस जप:- जब मन्द जप ठीक से होने लगे तब मानस जप करना चाहिए। इसमें जप को वाणी, होंठ एवं कंठ के स्तर पर बिलकुल बन्द करते हुए केवल मन ही मन में जप चलता है। जप मन के उस भाग में से होते हैं, जहां से समस्त विचार उड़ते हैं। जप में हमारा लक्ष्य यह होता है कि हम पूरे भाव से एवं तन्मय होकर, धन्यता से ईश्वर के अस्तित्व का स्मरण बनाए रख सकें। यह प्रारम्भिक ध्यान है।

जप के प्रारम्भ में अपने इष्टदेव के रूप का स्मरण होता है, लेकिन बाद में केवल उनके अस्तित्व का सतत स्मरण बनाए रख सकें। इसके अलावा प्रारम्भ में जप में मंत्र की आवृत्ति की गति तेज होती है। फिर धीमे धीमे उस गति को मन्द किया जाता है। मंत्र के उपर ही अपने ध्यान को केन्द्रित किया जाता है। ६ धीमे धीमे मन इतना भावविभोर और समाहित हो जाएं कि मंत्र का उच्चारण गौण होकर प्रभु के श्रीचरणों में ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। नाम-जप का पर्यवसान इसी ध्यान में हुआ करता है।

श्लोक - ७

संगति:- पिछले श्लोक में वाणी के स्तर की साधना रूप जप के विषय में देखा। जप के प्रारम्भ में अपने इष्टदेव के रूप का स्मरण होता है। इसके माध्यम से हम अपनी वाणी और मन दोनों को प्रभु में लगाते हैं। परन्तु उसके उपरान्त वाणी के स्थूल आलम्बन को छोड़कर केवल मन को ही उनमें लगाते हैं। परमात्मा की करुणा और महिमा के स्मरण से मन इतना भावविभोर और समाहित हो जाए कि मंत्र का उच्चारण गौण होकर प्रभु के श्रीचरणों में ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। नाम-जप का पर्यवसान इसी ध्यान में हुआ करता है। इस ध्यान का पर्यवसान कहां होता है, उसे महर्षिजी बताते हैं।

**आज्यधारया स्रोतसा समम् ।
सरलचिन्तनं विरलतः परम् ॥**

अन्वयार्थ:- आज्यधारया समम् - तैलधारा की तरह, स्रोतसा समम् - प्रवाह की तरह, सरलचिन्तनम् - सरल चिन्तन, विरलतः - खण्डित (चिन्तन) से, परम् - श्रेष्ठ है।

श्लोकार्थ:- तैल की धारा के तथा नदी के प्रवाह के समान

किया जानेवाला ईश्वर का सरल चिन्तन ही खण्डित चिन्तन से श्रेष्ठ है।

व्याख्या:- जप मन के स्तर की एक प्रारम्भिक साधना होती है। इसके बारे में पिछले श्लोक में बताया गया। इस जप रूपा साधना का पर्यवसान उस ध्यान रूपा साधना में होता है कि जहां पर उनके नाम की आवृत्ति धीमे-धीमे विराम को प्राप्त हो जाती है। मन में केवल परमात्मा का स्मरण मात्र बना रहता है। अब नाम या शब्द का आश्रय छोड़कर परमात्मा के किसी सगुण रूप को प्रेमपूर्वक मन में लाकर अपने ध्यान का विषय बनाते हैं। अथवा किसी रूप विशेष को नहीं लाते हुए उनके गुण विशेष का चिन्तन करते हुए मन में उसका ध्यान करते हैं। इस प्रक्रिया को ध्यान कहा जाता है। जिसमें हम परमात्मा के ध्यान करने वाले ध्याता हैं, परमात्मा हमारे ध्यान का विषय ध्येय है और ध्यान की क्रिया सम्पन्न होती है।

ध्यान करते समय मन में स्वभाववशात् अथवा रागादिवशात् अनेकों व्यवधान आते हैं। जब मन नियत विषयों में भागने की चेष्टा करता है, तो यह निश्चित है कि वह या तो राग से सम्बद्ध विषय होते हैं, या द्वेष से सम्बद्ध। जो भी विषय हमारे अहं की संतुष्टि के लिए निमित्त बनता है, उससे सुख की

अनुभूति होती है अतः उसमें रागवशात् बार-बार मन जाता है। इसी प्रकार जो भी विषय हमारे अहं को पीड़ा पहुंचाने में निमित्त बनता है, उससे दुःख की अनुभूति होती है, उसमें द्वेष भावना होने लगती है, एवं मन उसी राग-द्वेष के विषयों में बार-बार भागता है, इसके कारण ध्यान खण्डित होने लगता है। इसे महर्षिजी ने विरल चिन्तन बताया। ऐसे समय राग के विषय में दोष दर्शन और द्वेष के विषय में गुण दर्शन करके राग-द्वेष को प्रारम्भिक चरणों में शिथिल किया जाता है। जब मन निश्चित विषयों में न जाकर असम्बद्ध विषयों में घूमता रहता है, तो इसे मन की आदतवशात् प्रवृत्ति समझनी चाहिए। हालांकि जप की साधना से मन के इन दोषों पर काफी हद तक नियन्त्रण प्राप्त होता है, तथापि मन के स्वभाव और आदत को अभ्यास और वैराग्य का आश्रय लेकर दूर करना चाहिए। मन को जब अपने इष्ट में रस का अनुभव नहीं होता है, तो वह उधर से पलायन करना चाहता है। अतः या तो रागादि के विषयों में जाता है, अथवा वहां से कहीं अन्यत्र रस की तलाश में भटकता रहता है। अतः मन को पुनः पुनः परमात्मा के चरणों में लगाएं। साथ ही परमात्मा की महिमा एवं कृपा का स्मरण करते हुए मन को प्रेम के रस से सराबोर कर देने पर प्यासे मन को रस की अनुभूति होने लगती है। वह मन अब परमात्मा के ध्यान में स्थिर होने

लगता है। इस प्रकार जब मन की परमात्मा के चरणों में स्थिरता हो जाती है, ऐसी सजातीय वृत्ति प्रवाह को ही महर्षिजी सरल चिन्तन बताते हैं। यह सरल चिन्तन, विरल चिन्तन से श्रेष्ठ है।

महर्षिजी दृष्टान्त से बताते हैं कि परमात्मा के चरणों में ध्यान तैल धारावत् हो। जैसे तेल की धारा में अखण्डता एवं स्निग्धता होती है, वैसे ही अपने इष्ट के प्रति भक्तिरस से युक्त अखण्ड चिन्तन हो। किन्तु तेल की धारा को प्रवाहित करने में थोड़ा प्रयास होता है। अतः उसके पर्यवसान रूप दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि यह नदी के प्रवाह की तरह हो। जो अत्यन्त सहजतापूर्वक बहता है, बिना किसी प्रयास के। जब ध्यान करते-करते ध्याता ध्येयाकार हो जाता है, उसमें ध्यान करने की कोई चेष्टा नहीं है, तथा कुछ क्षणों तक अपने ध्यातापन के अभिमान से रहित हो जाता है, यह ही उपासना रूपी ध्यान का पर्यवसान है।

श्लोक - ८

संगति:- पिछले श्लोक में देखा कि परमात्मा के चरणों में ध्यान तैल धारावत् हो। जैसे तेल की धारा में अखण्डता एवं स्निग्धता होती है, वैसे ही अपने इष्ट के प्रति भक्तिरस से युक्त अखण्ड

चिन्तन हो। नदी के प्रवाह की तरह उसमें अत्यन्त सहजता भी हो, बिना किसी प्रयास के। जब ध्यान करते-करते ध्याता ऽ येयाकार हो जाता है, उसमें ध्यान करने की कोई चेष्टा नहीं है, तथा कुछ क्षणों तक अपने ध्यातापन के अभिमान से रहित हो जाता है, यह उपासना रूपी ध्यान का पर्यवसान है। उपासना की ऐसी स्थिति उत्कृष्ट मानी जाती है, किन्तु इसकी अपनी सीमाएं होती है। यदि किसी को इसका रस लग जाता है, तो उनके लिए व्यवहार एक समस्या का कारण बनने लगता है। वह बार बार इसी रस का आस्वादन करने की इच्छा करता है। अतः महर्षिजी आगे के श्लोक में इस रसास्वादन को व्यावहारिक धरातल पर लाने का उपाय बताते हैं।

भेदभावनात् सोऽहमित्यसौ । भावनाभिदा पावनी मता ॥

अन्वयार्थः- भेदभावनात् - भेद की भावना से, सः अहम् इति - वह मैं हूं इस प्रकार की, अभिदा भावना - अभेद की भावना, पावनी - पावन करने वाली, मता - मानी गई है।

श्लोकार्थः- परमात्मा से पृथक्ता की भावना से 'वह मैं हूं' इस

प्रकार की अभिदा भावना मन को शुद्ध करती है।

व्याख्या:- पिछले श्लोक में बताई गई उपासना के माध्यम से मन के अनेकों सामर्थ्य और दैवी गुणों का विकास होने लगता है। मन के पास दो अद्भुत सामर्थ्य होते हैं, जिसे विकसित करने पर मन को समग्र विकसित कहा जाता है। एक वह कि किसी परिस्थिति में किनारे खड़े रह कर उसे तटस्थतापूर्वक देखने का सामर्थ्य और दूसरा कि किसी के साथ तदाकार अर्थात् अभिनिवेश करने का सामर्थ्य। पहला सामर्थ्य कर्म के क्षेत्र में विकसित होता है। दूसरा सामर्थ्य पिछले श्लोक में बताई गई उपासना के माध्यम से विकसित किया जाता है। जिस मन में यह दोनों सामर्थ्य विकसित है, वह ज्ञान के श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप साधना के लिए अधिकारी बनता है। उपासना का पर्यवसान जहां ध्याता ध्येयाकार हो जाता है, वह सामर्थ्य अभिनिवेश का सामर्थ्य है। किन्तु अभी वह भक्त अपने आराध्य को अपने से पृथक् समझ रहा है, उसके उपरान्त तन्मयता का रसपान करता है। किसी भी साधन का आश्रय (स्थूल या सूक्ष्म का) लेकर रस की अनुभूति करना वह अपने बारे में एक अपूर्ण भोक्ता का अस्तित्व सूचित करता है, जिसे कुछ न कुछ भोग की आवश्यकता है। संसार का अर्थ भी यह ही होता है, जहां द्वैत का अस्तित्व

है - मैं और मुझसे पृथक् रसपान का विषय ।

अपूर्ण मैं के प्रयास से सदैव संसार का ही अस्तित्व बना रहेगा । समस्त शास्त्र का यह उद्घोष है कि अपनी औपाधिक परिच्छिन्नताओं के बावजूद हम वस्तुतः पूर्ण परमात्म तत्त्व ही है । इन शास्त्रों पर श्रद्धा रखकर अपनी पूर्ण स्वरूपता का विश्वास होना चाहिए । परमात्मा से अभिन्न होने की श्रद्धा रख कर अपने बारे में पूर्णता की अस्मिता को दृढ़ करना चाहिए । यह भावना को ही 'सः अहम्' वह हम है, इस प्रकार की अभिदा भावना महर्षिजी ने बताया । पूर्णता की श्रद्धा के उपरान्त जगत के साथ, विषयों के साथ सम्बन्ध तथा परमात्मा का स्मरण स्वार्थ की भावना से नहीं किन्तु धन्यता के भाव से होने लगता है । भगवान गीता में बताते हैं कि यो यच्छ्रद्धः स एव सः । जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही हो जाता है । पूर्णता की श्रद्धा ही पूर्णस्वरूपता के ज्ञान में परिणत होती है । वह ही मुक्ति है । अपने परमात्म स्वरूप की श्रद्धा इसलिए निश्चित रूप से पावन करने वाली है । अतः महर्षिजी बताते हैं कि भेद की भावना से सोऽहम् इति अभिदा भावना मन को पावन करने वाली मानी गई है । क्योंकि यह ही मुक्ति की ओर ले जाने वाली है । यह ही निःस्वार्थता उत्पन्न करने वाली है । मन में निःस्वार्थता आते ही समस्त अशुद्धियां समाप्त होने लगती है ।

श्लोक - ६

संगति:- चौथे से आठवें श्लोक तक साधन भक्ति का प्रतिपादन किया गया था। परमात्मा के प्रति प्रेम और श्रद्धा में वृद्धि हो सके। जैसे-जैसे मन में प्रभु के प्रति प्रेम और श्रद्धा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मन निष्काम अर्थात् शुद्ध और सात्विक होता जाता है। मन को शुद्ध और सात्विक बनाने के लिए प्रभु के प्रति अभेद की भावना अत्यन्त फलदायी होती है। अब इस श्लोक में भक्ति का पर्यवसान का स्वरूप बताते हैं।

**भावशून्य सद्भाव सुस्थितिः ।
भावनाबलाद् भक्तिरुत्तमा ॥**

अन्वयार्थ:- भावशून्य - समस्त भेद से रहित, सद्भाव - सत्स्वरूप में, सुस्थितिः - सम्यक् स्थिति, उत्तमा भक्तिः - श्रेष्ठ भक्ति है, भावना बलाद् - अभेद भावना के बल से (प्राप्त होती है।)

श्लोकार्थ:- समस्त भेद से रहित सत्स्वरूप में सम्यक् स्थिति ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। यह अभेद भावना के बल से प्राप्त होती है।

व्याख्या:- पिछले श्लोक में हमने देखा कि परमात्मा के साथ अभेद की भावना रखनी चाहिए, अर्थात् उनसे हम भिन्न नहीं है, यह भावना पावन करने वाली है। परमात्मा के साथ अभेद की भावना रखना यह शास्त्र और गुरु के प्रति श्रद्धा की वजह से मन के अन्दर जगाए गए भाव रूप होता है। किन्तु यह मन के स्तर पर के भाव अर्थात् वृत्तिरूपा ही होता है। इस प्रकार की श्रद्धा का ही पर्यवसान ज्ञान में होता है। गीता में भगवान बताते हैं कि 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वैसा ही होता है। परमात्मा से अभेद की श्रद्धा की वजह से भावना जितनी हद तक दृढ़ होती है, उतना ही शीघ्र उसका प्रसाद प्राप्त होता है।

महर्षिजी यहां उत्तमा भक्ति अर्थात् भक्ति का पर्यवसान अथवा भक्ति की पराकाष्ठा का रूप बताते हैं। भक्ति में परमात्मा के प्रति समर्पण होता है। जहां भक्त अपनी समस्त विशेषताओं का अभिमान प्रभु के श्रीचरणोंमें समर्पित करके उनकी सेवा करता है। प्रभु के प्रति वह अनन्य प्रेम से युक्त होता है। जिसके भी प्रति प्रेम होता है, उससे एकात्मता प्राप्त करने की एक स्वाभाविक ही चाह होती है। प्रभु के प्रति जैसे-जैसे प्रेम बढ़ता जाता है, तो उनसे भी एक होने की स्वाभाविक कामना होती है। अभिदा भावना में गुरु और शास्त्र

के प्रति श्रद्धा की वजह से यह भावना रखी जाती है, कि हमसे परमात्मा अलग नहीं है किन्तु हमारी आत्मा की तरह से ही हैं। इस श्रद्धा की वजह से मन शुद्ध व सात्विक, सत्य के ज्ञान के लिए पात्र बनने लगता है। ऐसे शुद्ध मन से युक्त जिज्ञासु साधक जब गुरु के श्रीचरणों में बैठकर आत्मा के ज्ञान का श्रवण करता है तब इस श्रद्धा की ज्ञान में परिणति होती है।

इस ज्ञान की अवस्था को ही यहां भावशून्य शब्द के माध्यम से बताया जा रहा है। भावशून्य अर्थात् विकल्पशून्य। जहां किसी भी प्रकार के कोई भेद नहीं है। परमात्मा के प्रति जीव का पूर्ण रूप से समर्पण, जहां जीव और ईश्वर दो नहीं है। अपनी मूल अस्मिता समस्त द्वैत से परे, सत् स्वरूप पूर्ण परमात्मा है। इस अस्मिता में सुस्थिति हो जाना अर्थात् इस तथ्य में निष्ठा हो जाना। यह अभिदा भावना की तरह कोई भाव अर्थात् वृत्ति रूप से नहीं है। अभेद की भावना और अभेद के ज्ञान में मूलभूत यह भेद होता है कि अभेद की भावना में श्रद्धा के बल से प्रयासपूर्वक अभेद की भावना बनाई जाती है। जहां बुद्धि में ज्ञान उससे ठीक विपरीत विराजमान है। अर्थात् बुद्धि और मन का भेद स्पष्ट रूप से विराजमान है। अभेद के ज्ञान में मन में जिस विषयक भावना को दृढ़ किया था उसे गुरु के कृपाप्रसाद से जान लिया है। अतः मन और बुद्धि में कोई संशय विपर्यय का

अस्तित्व नहीं रहता है।

अभिदा भावना की दृढ़ता के प्रभाव से ज्ञान का यह अभेद में स्थिति रूपा प्रसाद की प्राप्ति होती है, यह ही भक्ति की परकाष्ठा है। जहां हमारे प्रियतम प्रभु से हम एक है, यह दृष्टि प्राप्त हो गई है। ऐसे धन्य मन में अब किसी चीज की प्राप्ति का, या कुछ करने वा न करने का कोई भी संकल्प शेष नहीं रहता है।

इस ही भावशून्य स्थिति के लिए अपरोक्षानुभूति, तुरीय अवस्था की प्राप्ति ब्रह्मज्ञान की अवस्था आदि पर्याय रूप है।

श्लोक - १०

संगति:- पिछले श्लोक में समस्त भेद से रहित स्वस्वरूप में सम्यक् स्थिति को प्राप्त करना ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति कहा गया। अब यहां उसे ही जीवन के लक्ष्य स्वरूप बताते हुए समस्त साधनों का स्थान एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण बताते हैं।

**हृत्स्थले मनः स्वस्थता क्रिया ।
भक्तियोगबोधाश्च निश्चितम् ॥**

अन्वयार्थ:- हृत्स्थले - चेतनस्वरूपता में, **स्वस्थता** - स्थित, **क्रिया** - करना, **भक्ति योग बोधाः च** - भक्ति, योग, और बोध का **निश्चिता** - निश्चय ही (यह प्रयोजन है)

श्लोकार्थ:- मन को हृद् अर्थात् अपनी चेतन स्वरूपता में स्थित कर देना ही भक्ति, कर्म, योग एवं ज्ञान का प्रयोजन है। यह समस्त शास्त्रों और आचार्यों का निश्चित मत है।

व्याख्या:- रमण महर्षिजी कहते हैं कि समस्त प्रमाणों एवं आचार्यों के द्वारा यह बात निश्चित की गई है कि अंततः जब हमारा मन हृत्स्थले अर्थात् अपने ही चेतन स्वरूपता में सहज रूप से विद्यमान, स्थित होकर स्वस्थ हो जाता है, वो ही समस्त साधना का पर्यवसान है।

हृत् का अर्थ होता है केन्द्र। जैसे हृदय हमारे पूरे शरीर का केन्द्र होता है। वैसे ही जो हमारे व्यक्तित्व का सारभूत तत्त्व है, जिसकी वजह से हमारा होना है, वह चेतन सत्ता ही हृदय है। जब इसको ब्रह्म जानते हुए आत्मा की तरह से जान जाते हैं, वह ही मूल साधना है। उस स्वस्वरूप में स्थित हो जाना वह ही स्वस्थता की प्राप्ति है।

जब तक उसमें स्थिति प्राप्त नहीं होती है, तब तक कुछ

न कुछ करने की आवश्यकता होती है, तथा कुछ भी करें तब भी पूर्णता की प्राप्ति कभी सम्भव नहीं होती, यह ही संसार है, यह ही बन्धन है। जब हम ही पूर्ण हैं, तो करने अथवा नहीं करने का प्रश्न ही खत्म हो जाता है। संसार वृक्ष का जड़ से छेदन हो गया। यह ही मोक्ष है।

पिछले श्लोक में जिसे सद्भाव सुस्थिति कहा गया, उसे ही यहां हृत्स्थले स्वस्थता के द्वारा कहा गया। भक्तियोग, कर्मयोग, अष्टांग योग की साधना हो या ज्ञान योग हो, इन समस्त योग का मूल प्रयोजन आत्म-एकत्व बोध के लिए ही पात्रता उत्पन्न करना है। इसी के लिए योगदान होता है। प्रत्येक योग हमारी बहिर्मुखता को समाप्त करके अपने करीब ले आता है। कर्म एवं भक्तियोग के बारे में विचार करके देखा कि कैसे एक साधक के जीवन में इन दोनों का योगदान है। हम किसी भी एक चीज का आश्रय लेकर दूसरे की उपेक्षा नहीं कर सकते। एक व्यक्ति के अन्दर भावनाएं होती हैं, विचार होता है, प्राण की क्रियाएं चला करती हैं तथा हर क्षण किसी न किसी कर्म का आश्रय लिया जाता है। हम अपनी इन समस्त शक्ति व सामर्थ्यों का कैसे प्रयोग करें कि अन्ततः समस्त जगत के मिथ्यात्व का निश्चय करके अपने आपको ही सहज रूप से पूर्ण जान लें, यह ही समस्त साधनों का प्रयोजन है।

इस प्रकार श्लोक में समस्त साधनों का एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया गया कि ये समस्त अलग-अलग मार्ग नहीं होते हुए अपने ही व्यक्तित्व के विविध स्तरों को अपने स्वस्वरूप के ज्ञान के लिए तैयार करना है।

श्लोक - ११

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने समस्त साधनाओं का समन्वयात्मक दृष्टिकोण बताया कि इन सब का प्रयोजन अपने स्वस्वरूप में जगने मात्र के लिए है। इन साधनों के द्वारा मन को ज्ञान के लिए पात्र बना कर अन्ततः गुरु के श्री चरणों में बैठकर श्रवण करना होता है।

**वायुरोधनात् लीयते मनः ।
जालपक्षिवद् - रोध साधनम् ॥**

अन्वयार्थ:- वायुरोधनात् - प्राण के निरोध करने से, मनः - मन, लीयते - लय होता है। जालपक्षिवद् - जाल में फंसे पक्षी की तरह, रोध साधनम् - निग्रह साधन है।

श्लोकार्थः- प्राण के निरोध करने से मन का लय हो जाता है, किन्तु यह प्राणनिरोध पक्षी को जाल में पकड़ने के समान मन के निरोध का एक साधन है।

व्याख्या:- पातंजल योग सूत्र में महर्षि पतंजलिजी ने मन के उपर विशद एवं गहन अध्ययन करा है। उसमें मन को शान्त करने के अन्तर्गत अष्टांग योग के एक अंग की तरह प्राणायाम को करने हेतु बताया है। वैसे योगशास्त्र का प्रयोजन ही मन को शांत करना है। 'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः।' शरीर की स्वस्थता के लिए तथा मन को शान्त करने के लिए विविध यम और नियम आदि का पालन करना आवश्यक है। इन आठ अंगों में से एक अंग प्राणायाम है।

प्राणायाम का अर्थ होता है - श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः। श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद कर उस पर नियंत्रण स्थापित करना। प्राण और मन का घनिष्ठ संबन्ध है, अतः एक को नियंत्रित करने पर दूसरे पर भी उसका प्रभाव दिखता है।

हमारी जो सतत सांस चलती है, वह तीन प्रकार की है, १. जब हम सांस को बाहर छोड़ते हैं, वह रेचक कहलाता है, २. जब अन्दर लेते है तो वह पूरक कहलाता है, और ३. रेचक और पूरक के मध्य में सांस जो अन्दर रुकी हुई है वह 'अन्तःकुम्भक' और पूरक और रेचक के मध्य में सांस को अपने

फेफड़े को खाली करके बाहर रोका है, वह 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। प्राणायाम की प्रारम्भिक साधनाओं में नाड़ियों को जगाया और शुद्ध किया जाता है, और फिर सांसों को गहरा और धीमा किया जाता है। धीमे-धीमे सांसों के बीच के अन्तराल को बढ़ाया जाता है, और तदुपरान्त कुम्भक में स्थिति बढ़ाई जाती है। अन्ततः कुछ पल के लिए सांस चलना रुक जाती है। इस वजह से मन की समस्त वृत्तियां थोड़ी देर के लिए थम जाती है, और मन लय को प्राप्त हो जाता है।

मन के दो कार्य होते हैं - १. इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों को ग्रहण करना, तथा, २. किसी विषय से सम्बद्ध संकल्प-विकल्प करना है। जो संकल्प-विकल्पात्मक होता है वह चंचल होता है। इस मन को ही शान्त करने की आवश्यकता होती है। वायुरोधन अर्थात् प्राणायाम के द्वारा मन एकदम शांत हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा मन के कैसे भी विकल्पों को अस्थायी रूप से मगर क्षण भर में शांत किया जा सकता है। अतः प्राणायाम अभ्यास योग्य है।

यह प्राणायाम मानों कि उड़ते हुए पक्षी को जाल में फांस लेता है। जिस समय पक्षी के उपर जाल डाल दी जाती है, तो वह अपने पंखों को समेट कर शान्त होकर बैठ जाता है, और जब जाल को हटा दिया जाय तब वह तेजी से वहां से उड़ जाता

है। उसी तरह से प्राणायाम से शान्त किया हुआ मन श्वास-निश्वास की गति के विच्छेद के काल में शान्त होता है, लेकिन पुनः उड़ान भरने लगता है। प्राणायाम के द्वारा मन के मूल्यों में तथा विक्षेपों के कारण में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होता है। अतः मूलरूप से मन वैसा का वैसा ही बना रहता है।

अतः प्राणायाम की साधना को मन शान्त करने का एक तात्कालिक उपाय समझना चाहिए, न कि शाश्वत उपाय। इसकी मर्यादा को जान कर इसका उचित लाभ लेना चाहिए, मन के विक्षेपों की निवृत्ति के लिए तो उसके कारण की गहराई में जाकर ही उसकी निवृत्ति करनी चाहिए।

श्लोक - १२

व्याख्या:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि प्राण के निरोध करने से मन का लय हो जाता है। इन प्राण और मन का क्या सम्बंध होता है! जिससे प्राण के रोधन से मन का लय होता है। इस बात को महर्षिजी आगे के श्लोक में बताते हैं।

**चित्तवायवः चित्क्रियायुताः ।
शाखयोर्द्वयी शक्तिमूलका ॥**

अन्वयार्थ:- चित्तवायवः -मन और प्राण, **चित्क्रिया युता** - चेतनता और क्रिया से युक्त, **शाखयः द्वयी** - दो शाखाएं, **शक्तिमूलकाः** - मूल शक्ति की।

श्लोकार्थः- मन और प्राण चेतनता और क्रियाशक्ति से युक्त हैं। ये दोनों परमेश्वर की मूल शक्ति के दो शाखायें हैं।

व्याख्या:- महर्षि पतंजलि के अष्टांगयोग के अन्तर्गत प्राणायाम को एक अंग की तरह बताया गया। इन अष्टांगयोग का मूल प्रयोजन चित्त की वृत्तियों का निरोध करना है, यह पिछले श्लोक में देखा। प्राण का निरोध करने से मन कुछ क्षणों के लिए शान्त हो जाता है। इस प्राणायाम के लाभ को भी दर्शाया गया। प्राण और मन अन्योन्य काफी सम्बन्ध रखते हैं, यह बात दिखाई गई। प्राण का प्रभाव मन पर तथा मन का प्रभाव प्राण पर कैसे पडता है, इस विषय में महर्षिजी बताते हैं, कि मन और प्राण दोनों परमात्मा की मूल शक्ति की दो शाखाएं हैं।

परमात्मा की सृजनात्मिका शक्ति जिसे माया कहा जाता है, इस से ही समस्त जगत का सृजन हुआ है। इसमें मन और प्राण भी उसी मायाशक्ति के कार्यरूप है। मन चेतन है, इसमें सतत अहं और इदं विषयक वृत्तियां होती हैं अर्थात् वृत्तियों के

प्रवाह रूप जीवन्त भान होता है। दूसरी तरफ हमारी प्राणशक्ति उर्जारूपा है। इसकी वजह से शरीर, मन, इन्द्रियां आदि समस्त उपाधियों में उर्जा का अनुभव होता है। यह दोनों मन और प्राण एक ही मायाशक्ति के कार्य रूप हैं। जैसे एक ही वृक्ष की दो शाखाएं हुआ करती है, उसी तरह।

जैसे वृक्ष की एक शाखा को हिलाने पर दूसरी समस्त शाखाओं पर भी उसका प्रभाव दिखाई देता है, वैसे ही प्राण और मन का सम्बन्ध है। अतः प्राण को नियंत्रित करने पर मन भी शान्त होता है। प्राण की वजह से मन उर्जावान भी होता है। प्राणायाम का अपने मन को शान्त तथा उर्जावान बनाने में काफी महत्वपूर्ण योगदान है। परन्तु प्राण और मन दोनों ही एक शक्ति के कार्य रूप हैं। उनमें अन्योन्य कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। अतः प्राणायाम से मन की समस्याएं समाप्त नहीं होती है, मात्र क्षणिक लय होती हैं। मन को क्षणिक शान्त करने के उपरान्त ऐसे शान्त मन की गहराई में जाकर उस पर विचार करना चाहिए कि मन की समस्या का स्वरूप और उसका कारण क्या है? उस समस्या के मूल कारण के निदान के बारे में पुरुषार्थ होना चाहिए।

दरस्सल मूल समस्या प्राण के नियंत्रित न होने की वजह से नहीं है, किन्तु अज्ञान की वजह से है। अतः प्राणायाम का

यथोचित लाभ लेकर अज्ञान की निवृत्ति की दिशा में ही प्रयास होना चाहिए।

श्लोक - १३

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि प्राण के निरोध करने से मन का लय हो जाता है तथा इसके पीछे के कारण को भी उजागर किया। प्राण निरोध से मन का लय हो जाना यह मात्र तत्काल समाधान है, किन्तु सदैव समस्या से मुक्ति नहीं है। अब समस्यायुक्त मन के समाधान के उपाय को आगे के श्लोक में महर्षिजी बताते हैं।

**लयविनाशने उभयरोधने ।
लयगतंपुनः भवति नो मृतम् ॥**

अन्वयार्थ:- लयविनाशने - लय और नाश, उभयरोधने - दोनों निरोध, है, लयगतं - लय को प्राप्त, पुनः - फिर से, भवति - होता है, नो मृतम् - मरा हुआ नहीं।

श्लोकार्थ:- मन का लय और मनोनाश यह दोनों ही क्रमशः

प्राणनिरोध और मनोनिरोध से होते हैं। उनमें लय को प्राप्त हुआ मन फिर वैसा का वैसा जग जाता है, किन्तु नष्ट हुआ मन कभी लौट कर नहीं आता।

व्याख्या:- प्रत्येक व्यक्ति की अपने बारे में तथा अपने से भिन्न जगत के बारे में कुछ न कुछ समझ हुआ करती है। यह समझ मन के अन्दर ही होती है। अतः कहा जाता है कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। समस्त समस्याएं अपने बारे में अज्ञान और तज्जनित गलत समझ की वजह से होती है, यह अज्ञानादि मन में ही होता है। जब तक इस अज्ञान रूप कारण की निवृत्ति नहीं होती तब तक कार्य वैसा का वैसा ही बना रहता है। अतः जब तक अज्ञान का नाश नहीं होता तब तक मन का नाश नहीं होता और कार्य फिर से सिर उठाता है।

प्राणायाम के माध्यम से मन नियंत्रण में अवश्य आता है, किन्तु जब तक प्राण को नियंत्रित किया गया है तब तक ही मन शांत रहता है। जहां उसके उपर से प्राण का नियंत्रण हट गया तो वह शान्त मन पुनः उठ खड़ा होता है और समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है, क्योंकि कारण तो अभी भी मौजूद है।

मनोनाश का अर्थ यह ही होता है कि जहां समस्या से युक्त मन नष्ट हो गया क्योंकि उसके कारण का नाश हो गया

है। एवं मनोनाश करना ही एक मात्र उपाय है, समस्त समस्याओं से छुटकारा पाने का। इस मनोनाश को कैसे किया जा सकता है, यह आगे के श्लोकों में महर्षिजी बताते हैं।

श्लोक – १४

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि मन का लय और मनोनाश किया जा सकता है। इसमें से जो समस्या युक्त मन का लय किया जाता है, वह मन बाद में पुनः वैसा का वैसा समस्या युक्त जगता है। किन्तु जो मन नाश को प्राप्त होता है वह पुनः समस्या उत्पन्न नहीं करता है। अब यहां पर मन के लय और नाश में क्या हेतु है अथवा किस प्रक्रिया का आश्रय लेकर मन का लय व नाश किया जाता है, इसे आगे के श्लोक में बताते हैं।

**प्राणबन्धनात् लीनमानसम् ।
एक चिन्तनात् नाशमेत्यदः ॥**

अन्वयार्थ:- प्राणबन्धनात् - प्राण के बन्धन से, लीनमानसम् - लय को प्राप्त हुआ मन, एक चिन्तनात् - एक तत्त्व के चिन्तन

से, **अदः** - यह (मन), **नाशम्** - नाश, **एति-** प्राप्त होता है।

श्लोकार्थः- प्राण के बन्धन से लीन हुआ मन एक वस्तु के चिन्तन से नाश को प्राप्त होता है।

व्याख्या:- विक्षिप्त मन को तत्काल शान्त करने के लिए प्राणायाम एक अच्छा उपाय है। इससे मन की समस्त वृत्तियां थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाती है। इस प्रकार से मन को शान्त करना यह अन्तिम लक्ष्य नहीं है, क्योंकि प्राणायाम से शान्त किये हुए मन पर जहां प्राणायाम का नियंत्रण हटता है कि तुरन्त ही मन की समस्या ज्यों की त्यों दिखाई देती है। जिसकी वजह से संसार व उसकी पीड़ाएं है, वह वृत्तियों का होना नहीं है। यदि संसार रूप समस्या का कारण समझ लिया जाय तो संसार की निवृत्ति भी हो जाएगी।

अपने बारे में क्षुद्रता की अस्मिता की वजह से संसार हुआ करता है। पहले अपने बारे में छोटे पन की कल्पना होती है, उसके उपरान्त बाह्य वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति को क्षुद्रता की निवृत्ति के लिए हेतु मान लिया जाता है। समस्त प्रयासों के बावजूद क्षुद्रता की अस्मिता समाप्त नहीं हो पाती है। क्योंकि अपना छोटापना अज्ञान की वजह से मन की कल्पना मात्र ही

है। समस्त शास्त्र का यह उद्घोष है कि हर जीव वस्तुतः जगत के आधारभूत एक मात्र ब्रह्म तत्त्व ही है। अज्ञान की वजह से ही अपने बारे में भिन्न कल्पना करी हुई है। यह अज्ञान बुद्धि के अन्तर्गत है अतः शास्त्रों का गुरुमुख से श्रवण करके ज्ञानवृत्ति जगाई जाती है। यह ज्ञानवृत्ति ही अज्ञान की नाशक होती है।

जहां इस एक तत्त्व के चिन्तन से अज्ञान का नाश हुआ कि जो मन समस्या कारक था वह नष्ट होता है। समस्त वृत्तियों के पीछे जो आधारभूत वृत्ति अपने बारे में अपूर्णता के निश्चय रूपी हुआ करती थी, वह अब नहीं रहती है। उसके स्थान पर समस्त वृत्तियों के आधार भूत पूर्णता का निश्चय हो जाता है। ऐसी पूर्णता के कार्य रूप उत्पन्न जो भी वृत्तियों रूपा मन है, उसके अस्तित्व के कोई संसार व उसकी पीड़ाएं नहीं होती हैं।

श्लोक - १५

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि जिस मन का प्राण के बन्धन से लय किया था, वह मन अज्ञान से युक्त था। ऐसे शांत मन के द्वारा यदि स्वस्वरूप रूप एक तत्त्व का चिन्तन किया जाय तो मन का नाश अर्थात् मन के जिस दोष की वजह से संसार था, वह अज्ञान रूप दोष का नाश होता है। अब आगे

के श्लोक में ऐसे नाश को प्राप्त मन से युक्त योगी को क्या फल प्राप्त होता है, वह बताते हैं।

नष्टमानसोत्कृष्ट योगिनः । कृत्यमस्ति किं स्वस्थितिं यतः ॥

अन्वयार्थः- **उत्कृष्ट योगिनः** - उत्कृष्ट योगी का, **नष्ट मानस** - मनोनाश होता है, **किं** - क्या, **कृत्यम्** - करने योग्य, **अस्ति** - होता है, **यतः** - क्योंकि, **स्वस्थितिं** - स्वस्वरूप में स्थिति है।

श्लोकार्थः- जब उस उत्कृष्ट योगी का मन नष्ट हो जाता है, संसार के जनक दोष की निवृत्ति हो जाती है, तब वह कृतकृत्य हो जाता है, क्योंकि वह स्वस्वरूप में स्थित हो गया है।

व्याख्याः- प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी स्तर पर कुछ न कुछ करने के लिए विवश देखा जाता है। यह करना - चाहे भौतिक जगत के विषय की प्राप्ति के लिए हो सकता है अथवा व्यक्तित्व के विविध स्तर से अन्तर्मुख होकर मन को समाहित करने की दिशा में विविध साधना रूप होती है। यह मन को समाहित करके अन्तर्मुख होने की साधना योग कहलाती है। योग का

आश्रय लेने वाला योगी व्यक्तित्व के विविध स्तर पर कर्तव्य रूप से प्रयास करता है। ये समस्त योगीजन आदरणीय है। किन्तु महर्षिजी जिसका मन नष्ट हो गया है, उसे ही उत्कृष्ट योगी कहते हैं। समस्त योग का पर्यवसान मन को नष्ट करने रूप इस गन्तव्य में ही होता है। इसके उपरान्त किसी प्रकार के भी योग की अनावश्यकता हो जाती है।

इसका कारण यह है कि मन में जब तक अज्ञान से जनित अपूर्णता होती है, तब तक मन पूर्ण रूप से समाहित नहीं हो पता है। क्योंकि कर्म के पीछे कारण अपनी अपूर्णता की अस्मिता है। जब तक यह बनी रहती है, तब तक अपने बारे में कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप अभिमान तथा जगत के प्रति सत्यता की बुद्धि होती है और कुछ न कुछ कर्तव्य शेष रहता है। जिसके अन्दर यह अज्ञान समाप्त होता है, उसका मनोनाश हो जाता है अर्थात् मन की तात्त्विक रूप से समाप्ति नहीं, किन्तु मन में अपने बारे में जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि रूप अपूर्णता की अस्मिता थी, जिसकी वजह से यह संसार का दुष्चक्र हुआ करता है, उन अस्मिता की समाप्ति है। यह अस्मिता अपने स्वस्वरूप के अज्ञान की वजह से थी।

अज्ञान का अर्थ होता है अपनी पूर्णस्वरूपता के बारे में अनभिज्ञता तथा उसके कार्य रूप संसार का अर्थ होता है अपने

बारे में अपूर्णता की मान्यता के साथ ही बाह्य विषयों में से पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यर्थ प्रयास करना। जहां अज्ञान समाप्त हुआ तो अपनी पूर्णस्वरूपता में स्थिति हो जाती है, जिसके फलस्वरूप अब संसार की समाप्ति हो जाती है, तथा अब अपने स्वार्थ के लिए अथवा कुछ भी पाने के लिए कुछ भी करना अनावश्यक हो जाता है। अपनी पूर्णता में स्थिति ही स्वस्थिति है तथा अज्ञान व तज्जनित कार्य की समाप्ति ही मनोनाश है। ऐसा योगी धन्यता से युक्त होकर इस जगत में विचरण करता है। वह ही कृतकृत्य है।

श्लोक - १६

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि जो योगी अज्ञान का नाश करके स्वस्वरूप को प्राप्त हो गया है, उस नष्ट मन वाले योगी के लिए कुछ भी करने वा न करने योग्य शेष नहीं रहता है। अब आगे के श्लोक में महर्षिजी बताते हैं कि ऐसे समस्या युक्त मन का नाश किस तरह से होता है।

**दृश्यवारितं चित्तमात्मनः ।
चित्त्वदर्शनं तत्त्वदर्शनम् ॥**

अन्वयार्थः- दृश्यवारितं - दृश्य से परावृत्त, **आत्मनः** - अपने, **चित्तम्** - चित्त को, **चित्त्वदर्शन** - चित् स्वरूपता का दर्शन, **तत्त्वदर्शनम्** - तत्त्व का दर्शन है।

श्लोकार्थः- अपने चित्त को दृश्य से परावृत्त करने पर, चित्त के तत्त्व, अर्थात् अपनी चैतन्य स्वरूपता का बोध होता है। यह ही तत्त्व का दर्शन है।

व्याख्याः- मन में विद्यमान अज्ञान ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। अज्ञान का नाश 'एक' तत्त्व का चिन्तन कर उसका ज्ञान प्राप्त करने से ही होता है। यहां पर उसी 'एक' के चिन्तन का स्वरूप बताया जा रहा है।

मन अर्थात् चित्त। जिसमें अनेकों प्रकार की वृत्तियों का भान होता है। यह वृत्तियां सतत बदलती रहती हैं। कभी यह दृश्य पदार्थ विषयक होती हैं तो कभी भावनात्मक। यह समस्त वृत्तियां हम से पृथक् दृश्य रूपा है तथा हम उसके जानने वाले दृष्टा हैं। दृश्य में सतत परिवर्तन होता है, किन्तु उसको जानने वाला दृष्टा अव्यभिचारी सर्वथा समान बना रहता है।

इस श्लोक में दो मिलते जुलते शब्द के प्रयोग हुए हैं वे हैं, चित्त और चित्त्व। चित् अर्थात् चेतनता तथा चित्त्व अर्थात्

चेतन स्वरूपता। चेतनता प्रकाश स्वरूप तत्त्व है। जिस प्रकाश में मन की विविध विषयक वृत्तियां प्रकाशित होती हैं। यह चेतनता जिस समय नाम-रूपात्मक पदार्थ के आकार की होती हैं, तो वह दृश्य विषयक वृत्ति बन जाती हैं, एवं चेतनता में नाम-रूप जुड़ जाने पर वह ही मन कहलाता है। जिस समय मन में किसी भी नामरूपात्मक पदार्थ की वृत्ति आती है, और चेतनता उस वृत्ति को प्रकाशित करती है, तब वह ही दृष्टा कहलाती है, एवं इस मन (चित्त) के यह दृष्टा और दृश्य रूप दो पहलू होते हैं। दृश्य में विविधता है तथा व्यभिचारी है। इसलिए दृश्य को मिथ्या जानना चाहिए। यह दृश्य को जब मिथ्या जानते हैं अर्थात् दृश्य से अपने चित्त को परावृत करते हैं, तब हम जो दृश्य की अपेक्षा दृष्टा कहलाते थे, उस दृष्टा का भी दृष्टृत्व दृश्यवत् मिथ्या ही सिद्ध हो जाता है। तब जो रहता है वह प्रकाश मात्र ही है। वह ही चित् अर्थात् चेतनता है।

चित्त में से नाम-रूपात्मक जड़ का मिथ्यात्व निश्चय होने पर दृष्टृत्व भी बाधित होकर अपनी चित् स्वरूपता में अर्थात् अव्यभिचारी प्रकाश स्वरूपता में जगते हैं। यह दृश्य से रहित चेतनस्वरूपता को जान कर उसमें स्थित होना ही तत्त्व का दर्शन होता है। अपनी दृष्टृत्व आदि उपाधि को धारण कर स्वयं को सीमित मानकर संसारित्व को प्राप्त होते हैं। इनका

मिथ्यात्व निश्चय करके स्वस्वरूप में स्थित होने से ही संसार के बंधन से मुक्त होते हैं।

श्लोक - १७

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि दृश्य पदार्थों का मिथ्यात्व जानकर दृश्य से चित्त को परावृत्त कर देने पर अपने दृष्टृत्व का भी बाध होता है, इसी से अपनी चित् स्वरूपता में जागृति होती है। चित् स्वरूपता में जग जाना ही तत्त्व का दर्शन है। इसे जानना मन के उपर विचार करने से ही होता है। इसे महर्षिजी अगले श्लोक में दिखाते हैं।

**मानसं तु किं मार्गणे कृते ।
नैव मानसं मार्ग आर्जवात् ॥**

अन्वयार्थ:- मानसं तु - मन, किं - क्या है, मार्गणे - अन्वेषण, कृते - करने पर, न एव - नहीं ही, मानसं - मन, मार्ग - मार्ग, आर्जवात् - सरल होने से।

श्लोकार्थ:- यह मन क्या है? इस प्रकार विचार करने पर यह बात ज्ञात होती है कि मन नाम की किसी वस्तु की कोई स्वतंत्र

सत्ता ही नहीं है। इस प्रकार विचार का मार्ग ही सरल मार्ग है। अर्थात् यह ही वह मार्ग है जो सीधे मुक्ति के प्रासाद में पहुंचाता है।

व्याख्या:- प्रत्येक जीव स्वरूपतः मुक्त ही है अर्थात् आत्मा सदैव मुक्त है, आत्मा में न किसी प्रकार का अज्ञान है अतः न किसी प्रकार का बन्धन तथा तज्जनित संसार, समस्या केवल मन की ही है। अपनी अवस्थाओं पर विचार करने पर भी यह बात ज्ञात होती है कि सुषुप्ति अवस्था में जहां मन लय को प्राप्त हो जाता है, तब किसी प्रकार का संसार व बन्धन नहीं होता है। किन्तु जिस समय जाग्रत में आते हैं, तो मन का भान होता है, तब ही समस्त संसार रूप बन्धन की अनुभूति हुआ करती है।

उपनिषद् में बताया भी है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष के लिए कारण है। अतः यह विचारणीय है कि यह मन क्या है? कहाँ से आया है? मन में अनुभूत बन्धन का स्वरूप क्या है? इत्यादि। मन अर्थात् जिसमें 'मैं' वृत्ति से आरम्भ करते हुए समस्त बन्धन का अनुभव हो रहा है। जिस समय इस मन के बारे में विचार किया जाता है कि आखिर यह मन क्या है? तो यह ही निष्कर्ष निकलता है कि मन नाम की किसी वस्तु की कोई स्वतंत्र

सत्ता ही नहीं है।

इस मन पर विचार करने के लिए आवश्यक है कि मन शान्त व विरक्त हो। इसमें विचार करने का सामर्थ्य होना चाहिए। इसके लिए पहले मन को कर्मयोग और उपासना के माध्यम से शान्त, निर्मल व सात्विक बनाया जाता है। तत्पश्चात् इसे तत्त्वचिन्तन में लगाया जाता है। उस समय यह विचार का विषय नहीं है कि मन शान्त कैसे हो? मन के दोषों को निवृत्त कैसे किया जाय? परन्तु अब विचार का विषय यह होता है कि इन सबके पीछे क्या कारण है? उस कारण की निवृत्ति की दिशा में ही पुरुषार्थ लगाया जाता है, एवं मन के बारे में गहराई पूर्वक विचार करने पर मन रहता ही नहीं है। मन के बारे में विचार ही हमें सीधे मुक्ति के प्रासाद में प्रवेश दिलाती है।

श्लोक - १८

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि मन के उपर विचार करने पर यह पता चलता है कि मन की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं है। इस मन पर किस प्रकार के विचार किया जाए? इस विचार का स्वरूप महर्षिजी अगले श्लोक में दिखाते हैं।

वृत्तयस्त्वहं वृत्तिमाश्रिताः । वृत्तयो मनो विद्धि अहं मनः ॥

अन्वयार्थः- वृत्तयः - वृत्तियां, तु - तो, अहं वृत्तिं - 'मैं' वृत्ति,
आश्रिताः - आश्रित है, वृत्तयः - वृत्तियों को, मनः - मन,
विद्धि - जानें, अहं - मैं, मनः - मन ।

श्लोकार्थः- समस्त वृत्तियां 'अहं वृत्ति' पर आश्रित हैं । अतः
'अहं वृत्ति' भी मन है । क्योंकि वृत्ति ही मन है ।

व्याख्याः- मन एक अद्भुत करण है । मन के जगते ही समस्त
विचार प्रारम्भ हो जाते हैं, और उसके लय होते ही सब विचार
एवं भावनाएं अनुपलब्ध हो जाती हैं । यदि मन को ठीक से
समझा जाए तो वह आशीर्वाद बन जाता है, और अगर उसे
ठीक से नहीं समझा जाए तो वह इस दुनिया की सबसे बड़ी
समस्या बन जाता है । वह ही हमारे बन्धन एवं मोक्ष का कारण
है । यह अभिशाप एवं आशीर्वाद की सम्भावना केवल ठीक ज्ञान
के रहने या न रहने पर निर्भर हुआ करती है । अतः शास्त्र भी
कहते हैं कि मन के बारे में प्रमाणपूर्वक विचार करने पर अपनी
समस्त समस्याओं का समाधान प्राप्त हो जाएगा ।

मन कहते हैं वृत्तियों के प्रवाह को। वृत्ति उसे कहते हैं जिसके द्वारा हम किसी आन्तरिक या बाहरी वस्तु का 'भान' उत्पन्न करते हैं। हमारे मन में ही विविध वस्तुओं का सतत भान उत्पन्न होता रहता है। यह भान निकट अथवा दूर वस्तु का, स्थूल वा सूक्ष्म, वर्तमान वा भूत/भविष्य का, सुखद वा दुःखद आदि किसी भी वस्तु का हो सकता है। ये वृत्तियाँ संकल्प-विकल्पात्मक, भावनात्मक, अथवा ज्ञान-अज्ञान रूपी हो सकती हैं। वृत्तियाँ स्थायी नहीं होती हैं, ये तो मिथ्या की श्रेणी में ही आती है। अतः सत्य के बारे में जानना चाहिए। इसके लिए सर्व प्रथम मन को शांत करके देखें। जो भी अनुभूति हो रही है, उससे तादात्म्य छोड़कर देखें। जब बाकी समस्त वृत्तियाँ शांत होती है, तब उन समस्त वृत्तियों का उद्गम स्थान क्या है? उसकी तरफ ध्यान जाता है।

इन वृत्तियों का आधार क्या है? समस्त वृत्तियों के गर्भ में एक वृत्ति विद्यमान रहती है, जो कि विविध वृत्तियों के आवागमन से अप्रभावित रहते हुए उसे प्रकाशित करती हुई विद्यमान रहती है, तथा इस वृत्ति के अभाव में अन्य वृत्तियों एवं विचारों का अस्तित्व भी नहीं रहता है। वह है - 'मैं वृत्ति'। सुषुप्ति से जगने के उपरान्त सर्व प्रथम 'मैं हूँ' यह वृत्ति आती है, तत्पश्चात् 'मैं क्या हूँ' 'मैं देख रहा हूँ, ... इत्यादि वृत्तियाँ

अस्तित्व में आती है। अर्थात् यह 'अहं वृत्ति' ही समस्त 'इदं वृत्तियों' की आधार है। जब तक मन रहता है, तब तक यह 'अहं वृत्ति' स्थायी रहती है।

मन के अभाव में यह 'अहं वृत्ति' का भी भान खत्म हो जाता है। एवं यह 'अहं वृत्ति' हमारे मन की ही उपज है। इस 'अहं वृत्ति' को ही आधार बनाकर ही समस्त व्यक्तित्व निर्मित होता है। अतः इस 'अहं वृत्ति' की गहराई में जाकर उस पर विचार करना चाहिए। यदि यह 'अहं वृत्ति' जिससे हम तादात्म्य को प्राप्त करके अपने आपको एक व्यक्ति मात्र समझ रहे हैं, जिसकी वजह से अपने सीमित होने का भान होता है। ऐसे कल्पित व्यक्तित्व को आधार बनाकर जीने के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इसे बहुत अच्छी तरह देखना चाहिए। इसी स्तर पर खड़े रहने के उपरान्त खंड का अस्तित्व आता है, देशादि की सीमाओं में आ जाते हैं, अपूर्णता एवं दीनता होती है। अतः इसे अच्छी तरह से समझ कर उसके सत्य के बारे में विचार करके देखना चाहिए। तब यह सीमित व्यक्तित्व बाधित कर अपनी सत्य स्वरूपता का ज्ञान होता है, जिसमें किसी प्रकार की देश, काल, वस्तु की परिच्छिन्नता नहीं है। समस्त संसार का आधार इस 'अहं वृत्ति' पर विचार ही एक मात्र मुक्ति का तरीका है।

श्लोक - १६

संगतिः- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि समस्त विषयपरक वृत्तियां अहंवृत्ति पर ही आश्रित हैं। अतः अहंवृत्ति ही मन है। अब अगले श्लोक में इस अहंवृत्ति के बारे में महर्षिजी आगे और बताते हैं।

**अहमयं कुतो भवति चिन्वतः ।
अयि पतत्यहं निजविचारणम् ॥**

अन्वयार्थः- अयं अहं - यह मैं, कुतः - कहां से, भवति - आता है, चिन्वतः - विचार करने पर, अयि - अरे, अहं पतति - अह गिर जाता है, निजविचारणम् - अपने पर विचार करने पर।

श्लोकार्थः- यह अहं कहां से आता है, इस मैं पर विचार करने पर एक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आता है कि यह अहं ही गिर जाता है, अर्थात् उसका मानो अस्तित्व ही नहीं रहता है।

व्याख्याः- 'अहं वृत्ति' हमारे मन की ही उपज है। इस 'अहं

वृत्ति' को ही आधार बनाकर समस्त व्यक्तित्व निर्मित होता है। अतः इस 'अहं वृत्ति' की गहराई में जाकर उस पर विचार करना चाहिए। यदि यह 'अहं वृत्ति' जिससे हम तादात्म्य को प्राप्त करके अपने आपको एक व्यक्ति मात्र समझ रहे हैं, जिसकी वजह से अपने सीमित होने का भान होता है, ऐसे कल्पित व्यक्तित्व को आधार बनाकर जीने के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इसे बहुत अच्छी तरह देखना चाहिए। इसी स्तर पर खड़े रहने के उपरान्त खंड का अस्तित्व आता है, देशादि की सीमाओं के दायरे में आ जाते हैं, अपूर्णता एवं दीनता होती है। अतः इसे अच्छी तरह से समझ कर उसके सत्य के बारे में विचार करके देखना चाहिए। तब यह सीमित व्यक्तित्व को बाधित कर अपने सत्य स्वरूपता का ज्ञान होता है, जिससे किसी प्रकार की देश, काल या वस्तु की परिच्छिन्नता नहीं रह जाती है। समस्त संसार का आधार इस 'अहं वृत्ति' पर विचार ही एक मात्र मुक्ति का द्वार है। यदि 'मैं' वृत्ति काल्पनिक है, तो इस कल्पना का क्या आधार है।

अतः महर्षिजी बताते हैं कि अब यह सोचना चाहिए कि यह मैं वृत्ति का क्या सत्य है। प्रातः उठने के साथ ही सर्व प्रथम 'मैं वृत्ति' ही सिर उठाती है, तत्पश्चात् ही समस्त अन्यविषयक वृत्तियां आती हैं। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है

कि यह 'मैं वृत्ति' का अस्तित्व ही तब ही आता है, जब मन जगता है। मन के अभाव में 'मैं वृत्ति' का भी अभाव होता है, एवं इस वृत्ति का भी उतना ही सत्य है, जितना कि अन्य विषयक वृत्तियों का। यह अहं विषयक विचार शास्त्र को आधार बनाकर, गुरु के चरणों में बैठकर उनके श्रीमुख से श्रवण करना चाहिए। जब इस पर गहराई से विचार होता है, तब यह एक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आता है, कि यह अहंकार टिकता ही नहीं है। विचार के अभाव में ही यह अपने साम्राज्य को स्थापित करते हुए समस्त संसार को प्रसारित करता है। इस विचार का क्या स्वरूप होना चाहिए उसकी चर्चा आगे के श्लोक में की जाएगी।

श्लोक - २०

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि अहं कहां से आता है, इस मैं पर प्रामाणिक तरीके से विचार करने पर उसका मानो अस्तित्व ही नहीं रहता है। यदि अहं का नाश हो गया तो क्या शून्यता की अवस्था प्राप्त होगी? इस विषय पर महर्षिजी अब यहां चर्चा करते हैं।

अहमि नाशभाजी अहमहंतया । स्फुरति ह्रस्वयं परमपूर्णसत् ॥

अन्वयार्थः- अहमि - अहं के, नाशभाजी - नाश होने पर, अहं-अहंतया - मैं की तरह से, ह्रत् - साररूप, परम पूर्ण सत् - परिपूर्ण सत् तत्त्व, स्वयं - स्वयं, स्फुरति - स्फुरित होता है।

श्लोकार्थः- अहं के नाश होने पर उसके साररूप परिपूर्ण सत् तत्त्व अहं की तरह से स्फुरित होता है।

व्याख्याः- प्रत्येक व्यक्ति के मन में 'अहं वृत्ति' का स्फुरण होता है। यह वृत्ति मन के अस्तित्व में आने पर भान होती है, तथा मन के अभाव में इस वृत्ति का भान नहीं होता है। इस वृत्ति का भान होना यह मन का स्वभाव है तथा इसके स्फुरित होने में कोई समस्या भी नहीं है। जैसे दर्पण जब तक है, तो प्रतिबिंब का भान बना रहता है, उसका प्रयोग भी होता है, इसका होना कोई समस्या नहीं है। समस्या तो तब होती है, कि प्रतिबिंब के धर्मों को अपने धर्म मान लिया जाय। जिस समय मैं वृत्ति का भान होता है, तो वह किसी न किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति के साथ तादात्म्य करके उसके माध्यम से अपनी

सीमित तथा विकारी अस्मिता प्राप्त करता है। अपने बारे में सीमित अस्मिता ही संसार व दुःख का कारण बनती है।

इसके लिए प्रथम सोपान पर तो अपनी बाह्य वस्तु आदि से प्राप्त अस्मिता के उपर विचार करते हुए यह निश्चय करना चाहिए कि समस्त दृश्य पदार्थों से हम पृथक् उसके साक्षी - दृष्टा स्वरूप हैं। हम साक्षी होने की वजह से उनके धर्मों से अप्रभावित हैं। अपने बारे में समस्त दृश्य पदार्थों के साक्षी होने का निश्चय किया जाता है, तो न कोई दृश्य के रहने वा न रहने का संकल्प होता है, न ही किसी परिवर्तन की अपेक्षा होती है। ऐसे निरपेक्ष दृष्टृत्व को प्राप्त होता है।

अपने आप को दृष्टा समझने का परिणाम यह अवश्य होता है कि निरपेक्षत्व से युक्त हो जाते हैं, बाह्य परिस्थितियों में अप्रभावित रहने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है, किन्तु अभी भी अपनी अस्मिता तो सीमित ही है। हम साक्ष्य पदार्थ की अपेक्षा साक्षी है। अर्थात् अभी भी अस्मिता दृश्य पदार्थों के माध्यम से ही प्राप्त होती है। अतः अपने से पृथक् समस्त (अपनी देहादि उपाधि समेत) दृश्य पदार्थों की अनित्यता की वजह से उसे मिथ्या जानें। जब समस्त साक्ष्य पदार्थ ही मिथ्या है, यह जाना तो हमारा साक्षी होना भी मिथ्या ही सिद्ध हो जाता है। साक्षी

साक्ष्य की अपेक्षा, दृष्टा दृश्य की अपेक्षा ही होता है। जब दृश्य नहीं है, तो दृष्टापना भी नहीं होता है। दृष्टा एक परिवेश मात्र था, परिवेश के त्याग से जो परिवेश धारण करने वाला है, वह समाप्त नहीं होता है, किन्तु वह तो समस्त परिवेश से रहित एक अखंड सत्ता बनकर स्थित रहता है। जिसमें दृष्टा-दृश्य-दर्शन आदि रूप समस्त खंड का अभाव है। इस प्रकार अहं के नाश का स्वरूप उसका अभाव नहीं है, किन्तु उसके द्वारा धारण किए गए सापेक्ष व कल्पना के आधार पर टिकी हुई सापेक्ष अस्मिता मात्र का त्याग है। इन झूठी अस्मिता के त्याग के उपरांत हम जो शेष रहते हैं, वह समस्त देशादि की सीमाओं से परे, परिपूर्ण, अखंड सत्ता मात्र ही रहती है।

श्लोक - २१

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि दृश्य पदार्थों का मिथ्यात्व जानकर दृश्य से चित्त को परावृत्त कर देने पर अपने दृष्टृत्व का भी बाध होता है, इसी से अपनी चित् स्वरूपता में जागृति होती है। चित् स्वरूपता में जग जाना ही तत्त्व का दर्शन है।

इदमहम्पदाभि-ख्यमन्वहम् । अहमि लीनकेऽप्यलय सत्तया ॥

अन्वयार्थः- इदं - यह, अहं - मैं, पद - पद से, अभिख्य - अभिव्यक्त, अनु-अहम् - अहं में, अहमि - अहं के, लीनके - लीन होने पर, अपि - भी, अलय सत्तया - अलय सत्ता की तरह ।

श्लोकार्थः- यह अहं (जो अभिव्यक्त हो रहा है, उस अहं) को केन्द्र में रखकर जब शोध करा जाए, तो उसका लक्ष्यार्थ वह होता है, जो अलय सत्तावाला तत्त्व है। जब यह अहं लीन भी होता है, उस समय भी यह अलय सत्ता ही विद्यमान है।

व्याख्याः- अपने स्वस्वरूप के ज्ञान के लिए साधक को अन्तर्मुख होकर विचार करना चाहिए। जिस समय अन्तर्मुख होते हैं तो यहां अन्तःकरण में बहुत ही स्पष्ट वृत्ति रूप से 'मैं' का भान होता है। यह अहं वृत्ति का भान अन्तःकरण के आने के उपरांत ही होती है। सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण के अभाव में यह वृत्ति भी लुप्त हो जाती है। इस वृत्ति का उदय और अस्त बहुत अच्छी तरह से जाना जा सकता है। किन्तु इस वृत्ति के दो पहलू हैं। एक पहलू इस वृत्ति रूपा है, जिसे आधार बनाकर समस्त

विषयाकार वृत्तियां हुआ करती है। तथा दूसरा पहलू होता है, जो इस मैं की वृत्ति का आधारभूत है। जो इस वृत्ति की अभिव्यक्ति को भी सत्ता व स्फूर्ति प्रदान करता है। वह चेतन सत्ता इस वृत्ति के आविर्भाव और तिरोभाव से आविर्भूत और तिरोहित नहीं होती है। वह ही इस अहं वृत्ति का सत्य है।

इस प्रकार मैं वृत्ति पर विचार करने पर इसके दो पहलू सामने आते हैं, एक नित्य और दूसरा अनित्य पहलू है। अनित्य पहलू रूप मैं वृत्ति के के मिथ्या जानने पर उसके अधिष्ठान रूप एक अलय सत्ता रहती है। जैसे दर्पण के सामने होने पर प्रतिबिम्ब रूप से भान होता है। किन्तु दर्पण के अभाव में प्रतिबिम्ब से रहित बिम्ब की सत्ता बनी रहती है।

श्लोक - २२

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि अहं के बाधि त होने पर 'मैं' की तरह से स्थित एक अलय सत्ता ही अवशिष्ट रहती है। यह ही सत्य है। अब इस सीमित व काल्पनिक 'मैं' के उपर से अध्यारोप का अपवाद करने का तरीका आगे के श्लोक में बता रहे हैं।

विग्रहेन्द्रिय प्राणधीतमः । नाहमेकसत् तज्जडं ह्यसत् ॥

अन्वयार्थः- देह विग्रह - शरीर का विग्रह, इन्द्रिय - इन्द्रिय, प्राणधीतमः - प्राण, बुद्धि, अज्ञान, न अहम् - हम नहीं है, एक सत् - एक सत् तत्त्व है, तत् जडं - वह जड है, हि - तो, असत् - असत् स्वरूप ।

श्लोकार्थः- हम यह शरीर रूप विग्रह नहीं हैं, न हम इन्द्रियां हैं, न प्राण, बुद्धि और अंधकार स्वरूप हैं । किन्तु हम एक सत् स्वरूप हैं । यह प्राणादि तो जड़ और असत् रूप हैं ।

व्याख्याः- जहां पर भी अज्ञान होता है, वहां विपरीत भावनाएं होना स्वाभाविक होती हैं । हमने अपने स्वरूप को नहीं जानने के कारण अपने बारे में विविध प्रकार की कल्पना की हैं, जैसे रस्सी में सांप की कल्पना होती है । अतः सत्य को जानने के लिए अध्यारोप को अध्यारोप की तरह जानना होगा । उसके बाद ही शास्त्र प्रमाण से सत्य का निश्चय हो सकता है । इसके लिए आवश्यक है कि हमने अपने बारे में जो कुछ भी मान्यता रखी हैं उनके बारे में पुनर्विचार किया जाए ।

हमारी विपरीत धारणाओं में सर्वप्रथम अपने स्थूल शरीर को 'मैं' मान लिया जाता है। यह स्थूल शरीर दृश्य है, नाशवान है, अतः जड़ है। यह हम कैसे हो सकते हैं? यह स्थूल शरीर हम नहीं है। इसी प्रकार इन्द्रियां और प्राण भी हम नहीं हैं। हमारी इन्द्रियों और प्राणों में सतत परिवर्तन होता है। जिसमें भी विकार होता है वह तो मिथ्या होता है। इन समस्त परिवर्तन को हम जानते हैं, हम उनके दृष्टा हैं, यह सब हमारे लिए दृश्य रूप है। दृश्य होने की वजह से यह सब जड़ है। हम एक है और यह इन्द्रियां दस और प्राण पांच हैं। अतः यह भी हम नहीं हो सकते। हम अपने मन व बुद्धि के भी दृष्टा हैं। यह हमारे लिए दृश्य व परिवर्तनशील है। इसे हम जानते हैं। समस्त उपाधियां पंचमहाभूत की ही बनी हुई हैं, एवं किसी भी दृष्टि से विचार करें ता उनकी जड़ स्वरूपता सिद्ध होती है।

इस प्रकार से विचार करते हुए यह निश्चय करें कि समस्त उपाधियां जड़ स्वरूप एवं विकारी हैं। वे दृश्य हैं, अतः ये सब हम नहीं हैं। जिस समय यह निश्चय करते हैं कि ये उपाधियां जो कि परिवर्तन के दायरे में ही स्थित हैं, हम नहीं हैं। उपाधियों के अन्तर्गत हो रहे परिवर्तन से मन में हर्ष और शोक का अभाव होना चाहिए। इन उपाधियों में आत्मबुद्धि होने पर ही उनमें हो रहे परिवर्तनादि से तथा उनके लिए निर्मित अनुकूलता-प्रतिकूलता पर ही सुख व दुःख आश्रित हो जाता है।

एवं यह हम नहीं है इस प्रकार निश्चय विचारपूर्वक करना चाहिए। हम इन सब को व्याप्त करने वाले एक, अविकारी चेतन सत्ता है, यह निश्चय करना चाहिए।

श्लोक - २३

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि अपने शरीरादि उपाधियों में अज्ञानवशात् आत्मबुद्धि उत्पन्न की हुई है। अतः यह निश्चय करें कि हम देहादि उपाधियां नहीं हैं, किन्तु हम सत् स्वरूप हैं तथा यह प्राणादि तो जड़ और असत् रूप हैं। अब महर्षिजी आत्मा की सच्चिद् स्वरूपता को और स्पष्ट करते हैं।

**सत्त्वभासिका चित्त्व इतरा ।
सत्तया हि चित् चित्तया ह्यहम् ॥**

अन्वयार्थ:- सत्त्वभासिका - सत् स्वरूप को प्रकाशित करने वाली, चित् - चेतनता, क्व - कहां, इतरा - भिन्न है, सत्तया - सत् रूप से, चित् - चेतनता है, चित्तया - चित् रूप से, हि अहम् - हम ही है।

श्लोकार्थ:- सत् स्वरूप तत्त्व को प्रकाशित करने वाली चेतनता

क्या कोई और हो सकती है? सत् रूप से चेतनता ही विद्यमान है तथा वह चेतनता हम ही हैं।

व्याख्या:- जगत् के प्रत्येक नाम-रूप के अस्तित्व का भान होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु की सत्ता होती है। ये समस्त का कभी भाव होता है तो कभी अभाव। इन भाव अभाव को प्रकाशित करने वाले हमारी सत्ता उनके भाव के समय भी और उनके अभाव के समय भी बनी रहती है। हम बाकी समस्त को प्रकाशित करने वाले प्रकाशक उनसे पृथक् हैं। यह बात जगत् के पदार्थ के सन्दर्भ में तो दिखती है कि सब की सत्ता को प्रकाशित करने वाला प्रकाशक 'हम' उससे कहीं भिन्न देश व काल में होता है, अर्थात् सत्ता और उसके प्रकाशक का भेद होता है। यहां प्रश्न यह होता है कि हमारी सत्ता को प्रकाशित करने वाला प्रकाशक कौन है? क्या वह हमसे भिन्न देश व काल में स्थित है? किन्तु विचार करने पर इस आत्मा के स्तर पर यह सत्ता और प्रकाशक का भेद कल्पित सिद्ध होता है। (जगत् को सत्य मानने के उपरांत ही उसकी सत्ता को पृथक् स्वीकार किया जाता है, तथा अपना जीवरूप से अस्तित्व स्वीकार करके उनके प्रकाशक स्वयं का मानने लगते हैं, तथा देश, काल व वस्तु आदि रूप भेद को स्वीकार किया जाता है।)

सत् को प्रकाशित करने वाली चेतनता को उससे अलग होने के लिए कहीं भिन्न देशस्थ या कालस्थ नहीं होना चाहिए। सत् होने का अभिप्राय है कि सदैव होना चाहिए - हर देश और हर काल में। यदि सत्ता सदैव है, तो उसे कौन जानता है? जो भी इसे जानता है उस प्रकाशक अर्थात् चेतनता को सदैव होना चाहिए। चेतनता की चेतनस्वरूपता तब ही सिद्ध होती है, जब उसका अस्तित्व तीनों कालों में होता हो, अर्थात् हमारा अस्ति सदैव है।

हम ही सत् स्वरूप है, तथा हम ही सब को जानने वाले चित् स्वरूप हैं। हम - चेतनता और सत्ता यह कोई दो पृथक् पृथक् वस्तुएं नहीं होती हैं। चेतनता ही सत् है, और सत् ही चेतनता है। यह दो आत्मा के गुण भी नहीं हैं। किन्तु यह अपने स्वरूप को जानने के लिए दो लक्षणाएं हैं। इन लक्षणाओं पर विचार करने पर उसका पर्यवसान 'मैं' अर्थात् अपने पूर्णस्वरूप ज्ञान में होना चाहिए।

जो भी अपने आपको सत्-चित् स्वरूप जान लेता है वह औपाधिक व व्यक्तित्व के परिवर्तनों से कभी हर्षित व शोकाकुल नहीं होता है, तथा जन्म-मृत्यु रूपी विकारों से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि हम सदैव अविकारी रूप से इन सबको जानने वाले सच्चित् स्वरूप आत्मा हैं। सत् स्वरूप तत्त्व को प्रकाशित

करने वाली चेतनता कोई और नहीं हो सकती है। सत् ही चित है तथा यह चित हम ही हैं।

श्लोक - २४

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि सत् स्वरूप तत्त्व को प्रकाशित करने वाली चेतनता कोई और नहीं हो सकती है। सत् रूप से चेतनता ही विद्यमान है तथा वह चेतनता हम ही हैं। जिसको यह ज्ञान हो गया वह औपाधिक परिवर्तनों से हर्षित और शोकाकुल नहीं होता हैं, किन्तु अभी भी द्वैत बना हुआ है। जब तक जीव और ईश्वर का भेद बना हुआ है, तब तक द्वैत का अस्तित्व भी बना हुआ है। अतः महर्षिजी आगे के श्लोक में बताते हैं कि जीव और ईश्वर का भेद मात्र औपाधिक दृष्टि से ही होता है।

**ईशजीवयोः वेषधीभिदा ।
सत्स्वभावतो वस्तु केवलम् ॥**

अन्वयार्थ:- ईशजीवयोः - ईश्वर और जीव में, वेषधीभिदा - वेष की बुद्धि से भेद है, सत् स्वभावतः - सत्स्वरूप, वस्तु -

तत्त्व, **केवलम्** - एक ही है।

श्लोकार्थः— उपाधियां के भेद से ही ईश्वर और जीव में भेद है। सत्स्वरूप की दृष्टि से केवल एक ही वस्तु है अर्थात् अभेद है।

व्याख्या— जब तक हम से पृथक् किसी ईश्वर की सत्ता बनी हुई है, तब तक द्वैत ही बना हुआ है अर्थात् अपने आपको सत्स्वरूप जानने के बावजूद भी अभी भी जीव ही बने हुए हैं। इन जीव और ईश्वर का भेद एक व्यावहारिक सत्य है। जब जीव अपनी और देखता है तथा दूसरी ओर ईश्वर के बारे में सोचता है, तो यह ही बात दिखाई पड़ती है कि हम ईश्वर की सृष्टि में एक सृजन मात्र हैं। सृजन के अन्दर कालतः, वस्तुतः, और देशतः सीमाएं हैं। हम सृष्टि हैं, वे सृष्टा हैं। हम सीमित हैं, वे असीम हैं। हम कर्मकर्ता और कर्मफल के भोक्ता हैं और वे कर्मफलदाता हैं। हम सीमित सामर्थ्यों से युक्त हैं, वे सर्व समर्थ हैं, इस तरह अपने अन्दर क्षुद्र जीवत्व की अनुभूति और ईश्वर के सर्व-समर्थतादि गुणों से युक्त होना यह सतही दृष्टि ईश्वर के बारे में भेद बुद्धि लाती है।

यहां महर्षिजी बताते हैं कि यद्यपि भेद की अनुभूति हो रही है किन्तु विचार करने पर यह बात दिखाई देती है कि यह भेद मात्र अपनी उपाधि के साथ तादात्म्य करने के उपरान्त ही

होता है। जिस समय अपनी स्थूल शरीरादि उपाधि के साथ तादात्म्य करते हैं तो देश और काल की सीमाओं में बद्ध हो जाते हैं, तथा उसके साथ हम, अर्थात् जीव, हमसे भिन्न जगत् तथा इसे बनाने वाले ईश्वर के भेद निर्मित हो जाते हैं। जैसे हम एक जीव अज्ञानवशात् इन स्थूलशरीरादि उपाधियों से युक्त होता है, वैसे ही इन जगदादि का सृष्टा ईश्वर भी माया रूपी उपाधि से युक्त होते हैं। इस माया उपाधि को ही धारण करके वे जगत् के सृष्टा ईश्वर कहलाते हैं। तथा वे ही कर्मफलदाता आदि उपाधियों से युक्त हो जाते हैं।

जिसे सत् कहा जाता है, वह तो एक ही होता है। उसमें कोई भेद नहीं हो सकते हैं। किन्तु जब वह अज्ञानवशात् सीमित उपाधियों से तादात्म्य करता है तो वह जीव कहलाता है, और जब माया उपाधि से युक्त होते हैं तो वे ही ईश्वर कहलाते हैं, अर्थात् अज्ञान उपहित चेतनता ही जीव कहलाती है, और माया से उपहित चेतनता ईश्वर कहे जाते हैं। जैसे एक ही जल तत्त्व जब ईश्वरतुल्य बड़ी उपाधि को धारण करते हैं तो वह समुद्र कहलाता है और समुद्र के अन्तर्गत सीमित उपाधि से युक्त होने पर वह लहर नाम से जाना जाता है। दोनों का तत्त्व तो एक ही जल मात्र है। समुद्र और लहर में मूलरूप से कोई भेद नहीं है।

श्लोक - २५

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि उपाधियों के भेद से ही ईश्वर और जीव में भेद है। सत्स्वरूप की दृष्टि से केवल एक ही वस्तु है अर्थात् अभेद है। अतः प्रश्न होता है कि ईश्वर और जीव वस्तुतः एक ही तत्त्व है, तो उसको अनुभव कैसे किया जा सकता है! इस प्रश्न का समाधान आगे के श्लोक में दिया जा रहा है।

**वेषहानतः स्वात्मदर्शनम् ।
ईशदर्शनम् स्वात्मरूपतः ॥**

अन्वयार्थ:- **वेषहानतः** - उपाधि बाधित होने पर, **स्वात्मदर्शनम्** - आत्मा का दर्शन होता है, **ईशदर्शनम्** - ईश्वर का दर्शन, **स्वात्मरूपतः** - आत्मा की तरह से होता है।

श्लोकार्थ:- उपाधियों का अपवाद करने पर स्वस्वरूप आत्मा का दर्शन होता है। यह ही ईश्वर का दर्शन है। ईश्वर का दर्शन अपनी आत्मा की तरह ही होता है।

व्याख्या:- समस्त शास्त्रों का तात्पर्य जीव और ईश्वर के एकत्व में होता है। तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यों के द्वारा अखण्डता का ही बोध कराया जाता है। जीव का सत्य वही है, जो ईश्वर का सत्य हैं। इस सत्य को जानने के लिए जीव और ईश्वर इन दोनों पद के उपर विचार किया जाता है, उसके बाद जो विरोधी अंश है, उसे त्यागा जाता है।

आज अपने बारे में यह समझ है कि हम एक सीमित अपूर्ण व क्षुद्र जीव है, और हमें पूर्णता प्राप्त करनी है। तथा यह श्रद्धा है कि यह पूर्णस्वरूप तत्त्व ईश्वर ही हो सकते हैं। एक भक्त जो भगवान को अत्यधिक प्रेम करता है वह भी उनसे ऐक्य पाना चाहता है। परन्तु यहां एक विडम्बना यह है कि हम अपूर्ण व सीमित जीव कभी भी पूर्ण नहीं हो सकते हैं, तथा आज जैसा भी है, वैसे ही बने रहकर ईश्वर से कभी भी ऐक्य नहीं हुआ जा सकता है।

इसके लिए सर्वप्रथम यह निश्चय करना पड़ेगा कि हम मूलरूप से पूर्ण है तथा आज जो भी हमारे विविध परिवेश है, वह अज्ञानवशात् अपने बारे में की गई कल्पना मात्र है। अतः शास्त्रोक्त प्रामाणिक ज्ञान का आश्रय लेकर अपने बारे में की गई अहंकार से लेकर देहादि पर्यन्त की समस्त धारणाओं को बाधित करना होगा। जिस समय अपने उपर से समस्त वेश जो कि अपना अज्ञानवशात् सापेक्ष परिचय मात्र है, उसे बाधित

किया तो एक मात्र हम चेतन सत्ता अवशिष्ट रहती है। महर्षिजी बताते हैं कि 'वेशहानतः स्वात्मरूपतः' अपने जीवभाव का समस्त वेश समेत परित्याग होने पर अपने सत्यस्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

महर्षिजी बताते हैं कि ईश्वर का दर्शन भी आत्मा की तरह ही होता है। यदि ईश्वर हमसे पृथक् होंगे तो वे दृश्य होंगे तथा दृश्य होने की वजह से दृश्य के समस्त जड़त्व, विनाशत्व, विकारित्व आदि दोष से युक्त होना स्वाभाविक है। परन्तु ईश्वर हमसे पृथक् नहीं हो सकते हैं। जहां जीवभाव रूप वेश बाधित हुआ तो जीव की अपेक्षा जिन ईश्वर का अस्तित्व था, वह ईश्वरत्व भी बाधित हो गया। अज्ञान से उपहित चेतनता जीव कहलाती हैं, तथा माया उपहित चेतनता ही ईश्वर कहलाते हैं। इस माया रूपी चोले की वजह से ही ईश्वर सर्वज्ञत्वादि विशेष सामर्थ्यों से युक्त होते हैं। जहां इस मायोपाधि को भी जीव की उपाधि की तरह मिथ्या जानकर परित्याग किया तो ईश्वर का सत्य भी यह चेतन सत्ता मात्र हैं, यह ज्ञात हो जाता है। जीव और ईश्वर अन्योन्य सापेक्ष सम्बन्ध होता है। यह बाधित हो जानेपर एक अखण्ड चेतन सत्ता मात्र ही 'मैं' की तरह से विराजमान है, यह बात दीख जाती है।

इस तरह जीव और ईश्वर की उपाधि के बाधित होने पर ईश्वर का दर्शन अपनी आत्मा की तरह हो जाता है। यह

ही एक मात्र ईश्वर की प्राप्ति का तरीका है, तथा अपनी समस्त सीमाओं से परे पूर्णस्वरूपता में स्थित होने का उपाय है। जिसे महावाक्य के द्वारा शास्त्रों में लक्षित किया गया है।

श्लोक - २६

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि जीव और ईश्वर की उपाधि के बाधित होने पर ईश्वर का दर्शन अपनी आत्मा की तरह होता है। यह ही एक मात्र ईश्वर की प्राप्ति का तरीका है। अब ज्ञान में निष्ठा के स्वरूप के बारे में महर्षिजी बताते हैं।

**आत्मसंस्थितिः स्वात्मदर्शनम् ।
आत्मनिर्द्वयात् आत्मनिष्ठता ॥**

अन्वयार्थ:- **आत्मसंस्थितिः** - आत्मस्वरूप में स्थिति, **आत्मनिर्द्वयात्**
- आत्मा अद्वयस्वरूप होने से, **स्वात्मदर्शनम्** - आत्म साक्षात्कार,
आत्मनिष्ठता - आत्मनिष्ठा है।

श्लोकार्थ:- आत्मा अद्वय होने से आत्मस्वरूप में सम्यक् स्थिति

ही आत्मदर्शन है और यही आत्मनिष्ठा है।

व्याख्या:- व्यवहार में साधारणतः दर्शन शब्द का प्रयोग होता है तो वहां हम दृश्य पदार्थ को बहुत स्पष्ट रूप से जानते हैं, तथा दूसरा दर्शन में यह भाव होता है कि यह अन्तिम प्रमाण है, उसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु इन समस्त अर्थ में भेद की कल्पना तो बनी ही रहती है। जब यह ही दर्शन शब्द का अर्थ समझते हैं तो आत्मदर्शन यह अपने आप में गलत वाक्य सा प्रतीत होता है, क्योंकि जो आत्मा सबका दर्शन करती है, उन दर्शन करने वाले का दर्शन कैसे हो सकता है? अतः आत्मा के दर्शन का क्या स्वरूप हो सकता है, यह विचारणीय है। आत्मदर्शन से यह अवश्य प्रतीत होता है कि अपने से पृथक् दर्शन है, किन्तु यह बात यहां सम्भव नहीं है।

फिर भी आत्मा को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जाना जा सकता है, अतः दर्शन शब्द का प्रयोग किया गया है। लौकिक अनात्मा और आत्मा दर्शन दोनों में दर्शन शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् दोनों में बात स्पष्ट है, किन्तु एक मूलभूत भेद है। एक में त्रिपुटी बनी हुई है तथा एक में त्रिपुटी का अभाव है। बिना त्रिपुटी के आत्मा कैसे देखी जाएं? जो सब को देखने वाली है उसे कैसे जाने? यह विशिष्ट दर्शन का स्वरूप

बताते हुए उपनिषद् में कहा है कि उसके बारे में तत्त्वज्ञ से श्रवण करना चाहिए, विचारपूर्वक संशयों को दूर करें, उसके बारे में जो भी विपरीत भावना आती है, उसे बाधित करें, यह ही दर्शन का तरीका है।

हम अपने बारे में 'हम हैं' यह तो जानते हैं, किन्तु 'हम क्या है?' उसके बारे में जो धारणा बनी हुई है, वह व्यभिचारी है, स्थिर नहीं है। बाल्यादि तथा जाग्रदादि अवस्था में विभिन्नता है किन्तु 'हम हैं', यह बात सब में समान रूप से अनुस्यूत है। इस 'मैं' पर ही कल्पनाएं हो रही है। कोई भी कल्पना स्थिर नहीं है। यह समस्त धारणाएं हमारे मन के द्वारा कल्पित है। यह कल्पित धारणाओं से युक्त अहं ही संसार का आधार है। कल्पना का अस्तित्व ही तब होता है कि जब अधिष्ठान को नहीं जानते हैं। समस्या यह नहीं कि हम आत्मा को नहीं जानते हैं, किन्तु हम गलत जानते हैं। अतः साधना का स्वरूप यह है कि हम अपने बारे में समस्त धारणाओं को दूर करके प्रमाण के द्वारा ज्ञान प्राप्त करें। आत्मा के ज्ञान के बारे में प्रमाण, उपनिषद् वाक्य ही हैं। उनका गुरुमुख से तात्पर्य निश्चय करते हैं कि जो समस्त दृश्य के साक्षी रूप दृष्टा है, उसकी भी हम आत्मा हैं। अपने से पृथक् समस्त जगदादि दृश्य की आत्मा हम दृष्टा हैं, तथा सब के दृष्टा रूप परिवेश की आत्मा हम हैं,

क्योंकि यह हमारे द्वारा धारण किया हुआ कल्पित परिवेश मात्र है। एवं आत्मदर्शन में स्वस्वरूप को स्पष्ट रूप से जानने के उपरान्त सम्यक् स्थिति होती है। यह अपने बारे में सब के अधिष्ठान होने की स्पष्ट ज्ञानवृत्ति है, जिसे अखण्डाकार वृत्ति भी कहा जाता है। जब यह निःसंदेह ज्ञान हुआ कि हम वह हैं 'अहं ब्रह्मास्मि' वह ही आत्मसंस्थिति है। जहां अपने से पृथक् जानने की बात नहीं है।

संस्थिति के पूर्ण क्षणों में हम प्रारम्भ में अन्तर्मुख होते हैं। उसके उपरान्त विचारक भी आत्मज्ञान की अग्नि की वजह से बाधित हो जाता है। पहले स्वप्रकाश सत्ता का भान होता है, तदुपरान्त हम ही वह स्वप्रकाश सत्ता होते हैं। यदि उस क्षण में कुछ कहा जा सकता है तो वह केवल हम ही है। अन्ततः इस वृत्ति की भी अनावश्यकता हो जाती है। साधक का कर्तव्य इस दृढ़-वृत्ति को बनाए रखने में होता है। वृत्ति की सहजता ही निर्विकल्प या सहज स्थिति की प्राप्ति कराती है। यह ही अहं ब्रह्मास्मि का अभिप्राय अर्थात् संस्थिति है। जिस समय संस्थिति सहज हो जाती है उसको ही ज्ञान में निष्ठा कहते हैं, यह ही मोक्ष है।

निष्ठा के संदर्भ में महर्षिजी एक शब्द मात्र से समस्या का समाधान करते हैं कि 'आत्मनिर्द्धयात्'। जब तक द्वैत है, तब

तक निष्ठा में समस्या होती है। जब तक आत्मा से पृथक् किसी चीज का अस्तित्व है, तब तक संस्थिति अन्य विषयक वृत्ति से व्युत् हो जाती है। वस्तुतः तब तक आत्मशब्द का अर्थ समग्रता से नहीं देखा है। अभी भी अपने बारे में सीमित होने की समझ है। समग्र अर्थ केवल तब ही समझा जब यह जान लेते हैं कि जिस स्वप्रकाश सत्ता के लिए आत्मा शब्द प्रयोग यह अहं के सारभूत तत्त्व के लिए है।

श्लोक - २७

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया था कि आत्मा अद्वय है, यह सम्यक् रूप से जानना ही आत्मदर्शन है, और अद्वयता के निश्चय के कारण अन्य वृत्ति की असम्भावना आत्मनिष्ठा का हेतु है। अद्वयता के निश्चय का आशय यह भी होता है कि हम अपने आपको समस्त ज्ञात-अज्ञात वस्तुओं से परे समझने लगते हैं -

**ज्ञानवर्जिताऽज्ञानहीन चित् ।
ज्ञानमस्ति किं ज्ञातुमन्तरम् ॥**

अन्वयार्थ:- ज्ञानवर्जिता - ज्ञान से रहित, अज्ञानहीन - अज्ञान से रहित, चित् - चैतन्य, ज्ञानम् - ज्ञान, किं - क्या, ज्ञातुम् - ज्ञाता से, अन्तरम् - भिन्न, अस्ति - है!

श्लोकार्थ:- ज्ञान तथा अज्ञान से रहित चैतन्य ही शुद्ध ज्ञान है। इसे जानने के लिए उससे भिन्न क्या कोई ज्ञान हो सकता है?

व्याख्या:- आत्मा के ज्ञान से ही मोक्ष होता है, किन्तु आत्मा का ज्ञान किसे कहते हैं? यह समझना आवश्यक है। आत्मा अद्वय स्वरूप होने की वजह से उसका ज्ञान निश्चित रूप से लौकिक पदार्थों के ज्ञान की तरह नहीं हो सकता है।

जगत् के प्रत्यक्ष वा परोक्ष समस्त पदार्थों को या तो हम जानते हैं, अथवा नहीं, जिसे शास्त्रीय भाषा में विदित अथवा अविदित कहते हैं। विदित वह है जिसे हमने जाना है। तथा अविदित वह है जिसे हम आज नहीं जान रहे हैं, तथा जिसमें आज अविदित होने पर भी विदित होने का सामर्थ्य है। जब तक हमारे अन्दर उन-उन विषयक ज्ञानवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है, तब तक उसे अविदित की श्रेणी में रखा जाता है। जिन पदार्थों के हम ज्ञाता बनते हैं, उस विषयक वृत्ति हमारे अन्तःकरण में स्पष्ट रूप से उद्भूत होती है, तब उसे विदित की श्रेणी में रखा

जाता है। अविदित पदार्थ हमारे लिए अत्यन्त अज्ञात हैं। वह हमारे लिए अत्यन्त परोक्ष हो सकता है। किन्तु आत्मा अर्थात् हम जो सब को जाननेवाला हैं वह कभी भी ज्ञान का विषय नहीं बन सकता है - जिसकी वजह से हमारी बुद्धि सब को जानती है। जिसे हम नहीं जान रहे हैं, वह हमारे लिए अत्यन्त परोक्ष हो सकता है। हमसे कहीं अन्य देश व काल में, तथा अन्य वस्तु की तरह से है। उसके बारे में हमारे में अज्ञान है। हम जिसे नहीं जान रहे हैं, उस अज्ञान की वृत्ति के प्रति भी हम सभान हैं। अर्थात् अपने अन्दर स्थित ज्ञान और अज्ञान दोनों यह 'मैं' जो ज्ञानस्वरूप है उसके प्रकाश में ही प्रकाशित होते हैं।

वह 'हम', आत्मा, चेतन अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। वह तो ज्ञान और अज्ञान दोनों का ही प्रकाशक है। यह ज्ञान और अज्ञान के विषय की अपेक्षा से ही उसे प्रकाशक अथवा ज्ञाता कहा जाता है। अन्यथा वह ज्ञान स्वरूप मात्र ही है। हम जो विषयों के प्रकाशक अथवा जानने वाले हैं, वह प्रकाशक व ज्ञाता अन्तःकरण की उपाधि को धारण करने पर ही एक परिवेश मात्र है, अन्यथा हम प्रकाश अर्थात् ज्ञान स्वरूप मात्र ही हैं। हमसे भिन्न ज्ञाता की भी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

एवं महर्षिजी यहां बता रहे हैं कि आत्मा लौकिक विषय की तरह अत्यन्त ज्ञात भी नहीं है, जिसे हम ज्ञान का विषय बना

सकें तथा आत्मा अत्यन्त अज्ञान का भी विषय नहीं हैं, क्योंकि वह हम ही हैं। जो ज्ञाता के परिवेश में आज भासित हो रही हैं, वह ही हम एक अखण्ड चेतन सत्ता हैं। उस ज्ञातापन के अभिमान को बनाए रखकर नहीं जाना जा सकता है। ज्ञाता में जब ज्ञातृत्व का निषेध हो जाता है, अर्थात् अपने ज्ञानी या अज्ञानी होने के अभिमान एवं पीड़ाएं समाप्त हो जाती हैं, तब हम शुद्ध चैतन्य की तरह से विद्यमान होते हैं। वह शुद्ध अद्वितीय चैतन्य ही हम हैं, 'हम' ज्ञान तथा अज्ञान से वर्जित हैं, तथा हमसे पृथक् कुछ भी ज्ञेय नहीं है, यह निश्चय आत्म-ज्ञान है। इस प्रकार अद्वय स्वरूप आत्मा का ज्ञान होता है।

श्लोक - २८

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि अपने ज्ञानी या अज्ञानी होने के अभिमान एवं पीड़ाएं समाप्त हो जाती हैं, तब हम शुद्ध चैतन्य की तरह से विद्यमान होते हैं। वह शुद्ध अद्वितीय चैतन्य ही हम हैं, 'हम' ज्ञान तथा अज्ञान से वर्जित हैं, तथा हमसे पृथक् कुछ भी ज्ञेय नहीं है, यह निश्चय ही आत्म-ज्ञान है। इस प्रकार अद्वय स्वरूप आत्मा का ज्ञान होता है। ऐसे अद्वय स्वरूप आत्मा के दर्शन का क्या स्वरूप हो

सकता है - यह आगे के श्लोक में महर्षिजी बता रहे हैं।

किं स्वरूपमिति आत्मदर्शने ।

अव्ययाभवाऽऽपूर्णचित्सुखम् ॥

अन्वयार्थः- किं - क्या, स्वरूपम् - स्वरूप है, आत्मदर्शने - आत्मा के दर्शन का, अव्यय अभव आपूर्ण चित्सुखम् - अव्यय, अभव परिपूर्ण, चैतन्य, सुख स्वरूप हूं।

श्लोकार्थः- हमारा वास्तविक क्या स्वरूप है ! - इस पर विचार करने पर आत्मदर्शन होकर यह ज्ञात होता है कि मैं अव्यय, अभव, परिपूर्ण और चित्सुखस्वरूप हूं।

व्याख्याः- आत्मा के दर्शन का क्या स्वरूप हो सकता है! यदि हमने आत्मा का साक्षात्कार करके आत्मा को अद्वितीय स्वरूप जान लिया तो जानने का क्या स्वरूप होगा! इसके लिए यहां कुछ लक्षण प्रदान कर रहे हैं, कि आत्मा अव्यय स्वरूप है। अर्थात् हम मूलरूप से अव्यय स्वरूप तत्त्व हैं, जहां किसी भी प्रकार के कोई विकारों की सम्भावना नहीं है। अपने विषय में विकारों की सम्भावना का पूर्णतया अपवाद हो जाता है, अब औपाधिक स्तर पर हो रहे परिवर्तन-विकार आदि हमारे लिए

कोई चिन्ता या सुख देने का निमित्त नहीं होता है। अपनी अद्वितीयता ही हमारे अव्ययस्वरूप होने का कारण है।

हम अव्यय स्वरूप है, क्योंकि हम अभव स्वरूप है। अर्थात् हम अजन्मा है, हमारा कभी भी जन्म नहीं होता है, अतः जन्म से आरम्भ करके मृत्यु पर्यन्त के समस्त विकार से रहित हम हैं। अपने आपको अभव जानने पर मृत्यु रूप भय से भी मुक्त हो जाते हैं।

हम परिपूर्ण हैं। स्वरूप से ही हम पूर्ण है। क्योंकि हमारे अलावा कुछ अन्य का अस्तित्व ही नहीं है, जो हमें परिच्छिन्न करे। हममें समस्त देशादि परिच्छिन्नता का अभाव है। बाहर से कोई उपलब्धि हमारी पूर्णता में न तो वृद्धि कर सकती है और न ही ह्रास कर सकती है। हमारी पूर्णता कहीं किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। अतः हमारा समस्त औपाधिक व्यवहार मात्र पूर्णता की अभिव्यक्ति रूप ही होता है। हम चित्सुख अर्थात् हमारा सुख स्वतःसिद्ध हैं। सुख बाह्य अन्य पर निर्भर नहीं है। यह आनन्द स्वरूपगत है।

इस प्रकार यह समस्त लक्षण अद्वितीयता रूप अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लक्षण रूप से भान होते हैं। यह ही मुक्ति है।

श्लोक - २६

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि अपने वास्तविक स्वरूप पर विचार करने पर आत्मदर्शन होकर यह ज्ञात होता है कि मैं अव्यय, अभव, परिपूर्ण और चित्सुखस्वरूप हूं। अब आगे के श्लोक में महर्षिजी मुक्ति का स्वरूप बताते हैं तथा उसे कौन प्राप्त कर सकता है यह दिखाते हैं।

**बन्धमुक्त्यतीतं परं सुखम् ।
विन्दतीह जीवस्तु दैविकः ॥**

अन्वयार्थ:- बन्धमुक्ति अतीतं - बन्धन और मुक्ति से परे, **परं सुखम्** - परं सुख को, **दैविकः** -दैवी गुणों से सम्पन्न, **जीवः** - जीव, **विन्दति** - प्राप्त करता है।

श्लोकार्थ:- परं सुख बन्धन और मुक्ति से परे है, इसे कोई दैवी गुणों से सम्पन्न जीव ही प्राप्त कर सकता है।

व्याख्या:- जीव अपने आपको बन्धन में पाता है, और ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। यदि जीव मुक्त होता है तो पूरी

यह सम्भावना रहती है कि दुबारा बन्धन में भी आ सकता है। अतः ऐसी मुक्ति तो आदि और अन्तवान हो जाएगी, जो कि सांसारिक सुख की प्राप्ति के समान ही है। एवं मुक्ति किसी काल विशेष में प्राप्त करने वाली वस्तु या अवस्था नहीं है। बन्धन और मुक्ति जीव की दृष्टि से, जो अपने आपको देहादि उपाधियों से युक्त समझता है, काल की सीमाओं से परिच्छिन्न समझता है, उसीकी दृष्टि से होता है। जैसे पानी की एक लहर अपनी सत्यता को नहीं जानकर नाम-रूपात्मक उपाधि से युक्त मानती है, तब ही उसके उत्पत्ति-नाश आदि देश व काल के अन्तर्गत के समस्त विकार होते हैं। उससे अपने आपको वह बन्धन में अनुभव करती है। किन्तु वस्तुतः वह जल तत्त्व ही है, इस अपनी स्वस्वरूपता को जाना तो जल की दृष्टि से किसी प्रकार का बन्धन नहीं है, अतः मुक्ति भी नहीं है। वह मुक्त स्वरूप ही है।

वैसे ही परमात्मा में बन्धन और मुक्ति जीव की दृष्टि से कल्पित है। वस्तुतः आत्मा अर्थात् स्वरूपतः जीव बन्धन और मुक्ति की कल्पना से परे है। जीव के स्वस्वरूप के अज्ञान की वजह से ही बन्धन की कल्पना हो रही है, अतः ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त की जाती है, जहां यह निश्चय हो जाता है कि वस्तुतः हममें बन्धन और मुक्ति दोनों ही अज्ञान की वजह से

काल्पनिक है।

जीव की दृष्टि से देखें तो यह बन्धन अत्यन्त सत्य ही प्रतीत होता है, इसलिए मुक्ति के लिए विविध प्रयास किये जाते हैं। बन्धन में स्थित जीव जहां उसे जगत सत्य और अत्यन्त सारवान प्रतीत हो रहा है, उसे यह तथ्य दिखाई ही नहीं पड़ सकता है कि बन्धन और मुक्ति दोनों ही हममें कल्पना है, वस्तुतः हम मुक्त स्वरूप हैं। इस तथ्य को समझने के लिए विशेष पात्रता की आवश्यकता होती है, ऐसी पात्रता से युक्त जीव को ही यहां दैविक कहा गया है। जिसमें जगत के विषयों की अनित्यता को जानने की वजह से उनके प्रति रागादि अर्थात् महत्वबुद्धि का अभाव हो गया है। जिसमें ईश्वर के प्रति श्रद्धा व भक्ति की वजह से निरभिमानता उत्पन्न हुई है। हर परिस्थिति के बारे में तटस्थता से विचार करने का सामर्थ्य विराजमान है। ऐसे सात्विक मन के अन्दर अपनी सीमाओं के एहसास की वजह से उससे मुक्ति की कामना विराजमान है। वह सात्विक जीव ही इस ज्ञान को प्राप्त करके ऐसी बन्धन और मुक्ति से परे दिव्य अवस्था में जगने में समर्थ होता है।

श्लोक - ३०

संगति:- पिछले श्लोक में महर्षिजी ने बताया कि परं सुख बन्धन और मुक्ति से परे है, इसे कोई दैवी गुणों से सम्पन्न जीव ही प्राप्त कर सकता है। ऐसे महान लक्ष्य की सिद्धि के लिए निश्चित रूप से महान प्रयास की अपेक्षा होगी। ऐसी शंका हो तो महर्षिजी उसका समाधान करते हैं तथा इस ग्रन्थ का उपसंहार भी करते हैं।

**अहमपेतकं निजविभानकम् ।
महदिदं तपो रमण वागियम् ॥**

अन्वयार्थ:- अहम् अपेतकं - अहंकार से रहित, निजविभानकम् - स्वप्रकाशस्वरूपता, इदं - यह, महद् - महान, तपः - तपस्, इयम् - यह, रमण - रमण महर्षि की, वाक् - वाणी है।

श्लोकार्थ:- अहंकार से रहित, स्वप्रकाशस्वरूपता में जगना ही महान तप है, यह ही 'रमण' की वाणी है।

व्याख्या:- शिवपुराण के अन्तर्गत के प्रसंग में महादेवजी उन

तपस्वी ब्राह्मणों को जा उपदेश दे रहे थे, उन उपदेश का क्या स्वरूप होगा, इसे महर्षिजी ने इन उपदेश सार ग्रन्थ में प्रतिपादन किया।

ग्रन्थ आरम्भ करते हुए महर्षिजी ने बताया कि कर्म, उपासना, योग आदि समस्त साधन चित्तशुद्धि हेतु होते हैं, उन सबका अध्यात्मयात्रा में क्या योगदान होता है, उसे स्पष्ट किया। तथा अन्ततः मन-जो समस्त वृत्तियों का प्रवाह है, उन समस्त वृत्तियों की गहराई में जाकर जो अहंवृत्ति है, वह क्या है, उसके बारे में विचार करना ही मोक्ष का हेतु है। यह अहंवृत्ति को आश्रित बनाकर ही समस्त कर्म, विविध अनुभूतियां की जाती है। तथा उसी को आधार बनाकर अस्मिता का निर्माण होता है। इस में का विसर्जन करना अर्थात् वर्तमान की अस्मिता को ही विसर्जित कर देना, जो आज हमारे व्यवहारिक जीवन का आधार बनी हुई है। जब इसे बाधित किया जाता है, तो मानो जीवन का आधार ही छिना जा रहा हो, ऐसा प्रतीत होने लगता है, और असुरक्षा का अनुभव होता है, यह स्थिति कष्टदायी अवश्य होती है, पर वह ही अनुग्राहक होती है। क्योंकि इस क्षुद्र अस्मिता का विसर्जन होता है, तो ही अपनी ब्रह्मस्वरूपता का साक्षात्कार होता है। इसे ही महर्षिजी ने महान तप बताया है।

तपस्या का अध्यात्म लक्ष्य की सिद्धि हेतु बहुत महत्वपूर्ण



योगदान होता है। भौतिक लक्ष्य की सिद्धि हेतु जिसे उचित समझा था, तथा अध्यात्म लक्ष्य के लिए जो विपरीत आदतें होती हैं, उसे लक्ष्य के अनुरूप ढालने की साधना ही तपस् कहलाती है। अपनी आदतों के तथा संस्कारों के विपरीत जाना निश्चित रूप से कष्टदायी होता है। परन्तु यह ही उचित होता है। तपस्या से न केवल व्यक्तित्व को लक्ष्य के अनुरूप बनाया जाता है, परन्तु उससे संकल्पशक्ति में भी वृद्धि होती है।

अपनी ब्रह्मस्वरूपता के साक्षात्कार हेतु अपनी अस्मिता के अनुरूप जीने की आदत को बदलने के अलावा इसके लिए तीव्र संकल्प होना भी परं आवश्यक है। क्योंकि जाने अन्जाने अहं की संतुष्टि रूप प्रलोभन आकर विचलित करने की सम्भावना होती है।

महर्षिजी बताते हैं यह रमण की वाणी है। तथा यह रमण वाणी अर्थात् कल्याणकारी वचन है। क्योंकि यह ही मोक्ष को प्रदान करने वाली है।

ॐ तत्सत्